

❖ Section -1 : Principles and Fundamentals of Yoga

● 1.1 योग की परिभाषा—

योग शब्द 'युज समाधौ' आत्मनेपदी दिवादिगणीय धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। अतः योग शब्द का अर्थ समाधि अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। हमारा चित्त सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उपादान कारण वाला है, इसलिए उसका स्वाभाव त्रिगुणात्मक है। अर्थात् चित्त, प्रकाश, क्रिया व स्थितिशील वाला है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं - क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्धावस्था। चित्त की एकाग्र अवस्था से योग का प्रारम्भ होता है। चित्त में जितनी भी वृत्तियाँ अर्थात् विचार उत्पन्न होते हैं उन सबको महर्षि पतंजलि ने पाँच भागों में विभक्त किया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन पाँचों प्रकार की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों को रोक देना ही योग है। "योगः समाधिः"। उपरोक्त पाँचों प्रकार की वृत्तियों का निरोध करने से क्लेश व कर्म के बन्धन शिथिल होते हैं और निरुद्ध अवस्था अभिमुख होती है। तथा सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। आत्मा अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्दमय, शान्तिमय, पूर्ण सुखमय मूलस्वरूप या मूल स्वभाव में अवसित हो जाता है। योग की या समाधि की इस अवस्था में योगी भगवान् का यन्त्र बनकर ईश्वरीय ज्ञान, शक्ति, सामर्थ्य, ईश्वरीय प्रेम करुणा-वात्सल्य या दिव्यता से युक्त होकर दिव्यकर्म करता है तथा दिव्य सुख या ईश्वरीय सुख का अखण्ड रूप से अनुभव करता हुआ दिव्य जीवन जीता है व समष्टि में भी दिव्यता व शुभ का आधान करता है। **योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्धसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥** हे धनञ्जय ! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्यकर्मों को कर, समत्व ही योग कहलाता है। **बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।** समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्वरूप योग में लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है। कठोपनिषद् की षष्ठीवल्ली के 10 व 11वें मन्त्र में योग का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्। (कठोप. 6.10)

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं, ठहर जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती है अपितु निश्चल व निर्मल हो जाती है उस अवस्था को परम गति कहते हैं। और भी—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ। (कठोप. 6.11)

उपरोक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की स्थिर धारणा को योग कहते हैं। जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती है वह अप्रमत्त अर्थात् प्रमादहीन-सावधान हो जाता है। योग का अभिप्राय है— प्रभव तथा अप्यय। शुभ संस्कारों की या विवेक की उत्पत्ति प्रभव कहलाता है तथा अशुभ संस्कार व अविद्या का नाश अप्यय कहलाता है।

● 1.2 योग का इतिहास—

योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं है; लेकिन वह कितनी प्राचीन है? उसका प्रारम्भ किसने किया और कब किया? यह गहन शोध व अनुसन्धान का विषय है। अत्यन्त समृद्ध प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-अनुसन्धान करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'हिरण्यगर्भ' ही योग के आदि प्रवक्ता हैं, अन्य कोई नहीं। (हिरण्य योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। (बृ.यो.या.-12.5 उ.) ऋग्वेद में इसकी पुष्टि करते हुए बताया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ, जो सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ- उत्पत्तिस्थान, उत्पादक है, वह ही प्रथम था; वह समस्त जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध स्वामी है। (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्)(ऋग्.-10.121.1, यजुः-13.4(आर्याभिविनय)) हिरण्यगर्भ की अनेकविध स्तुति वेदों में की गई

है। यह हिरण्यगर्भ परमपिता परमात्मा ही है, क्योंकि वही उत्पन्न हुए सम्पूर्ण प्राणियों का स्वामी हो सकता है, यह बात प्रायः सभी प्रामाणिक शास्त्रों ने स्वीकारी है। हिरण्यगर्भ परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है, (स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।) (यो.सू.1.26) उससे पुरातन कोई नहीं है। (नान्यःपुरातनः।) (बृ.यो.या.स्मृ.-12.53.) महाभारत में भी योग के आदि प्रवक्ता के रूप में हिरण्यगर्भ को ही स्वीकारा गया है। (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।) (महा.12.349.65) यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है, जिसकी वेद स्तुति करता है। योगिजन इसकी नित्य पूजा करते हैं तथा संसार इसे विभु कहता है। (हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः। योगैःसम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः।।) (महा.12.342.96) इस हिरण्यगर्भ भगवान् को समष्टि-बुद्धि कहा है। इसी को योगिजन महान् तथा विरिचि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं। (हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः। महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः।।)

योग की शिष्य-परम्परा का प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण संज्ञित **मुण्डकोपनिषद्** में मिलता है। उसमें कहा है कि देवों में मुख्य देव सर्वप्रथम ब्रह्मा हुए, जो सारे जगत् का कर्ता और सब लोगों का रक्षक है। उन्होंने सब विद्याओं में प्रतिष्ठित प्रधान ब्रह्मविद्या अर्थात् योगविद्या अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वन् को कही। अथर्वन् ने अङ्गिरस् को बताई, अङ्गिरस् ने भारद्वाज सत्यवाह को बताई। भारद्वाज सत्यवाह से एक-दूसरे के बाद परम्परा से चली आ रही उस विद्या को ग्रहण करके मैं कृतार्थ हुआ हूँ। **अङ्गिरस् ऋषि** आगे कहते हैं- हे शौनक! उस योगविद्या को अब तुम मुझसे सुन लो। (मु.उ.1.1.1-3) अधिकारी भेद के कारण यह सनातन योग, ब्रह्मयोग, (राजयोग) एवं कर्मयोग, इस प्रकार की दो शाखाओं के रूप में प्रचलित हुआ। (आरूक्षसुमतीनां तु कर्मज्ञानमुदाहृतम्। आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानं त्यागं परं मतम्।।) (ग.पु.1.227.4) (लोकेऽस्मिन्निविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।) (गी.-3.3) पवित्रान्तःकरण वाले सनक, सनातन, सनन्दन, कपिल, आसुरि वोढु व पञ्चशिख आदि विद्वान् सर्वकर्मसंन्यास रूप ब्रह्मयोग (ज्ञानयोग) के अनुयायी हुए। (सनः सनत्सुजातश्च सनकः सनन्दनः। सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः।। सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणःसूताः। स्वसयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममाश्रिताः।। एते योगविदो मुख्याःसांख्यज्ञानविशारदाः। आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः।।) (महा. शा.340.67.69)

)यही ब्रह्मयोग कालान्तर में साङ्ख्ययोग, ज्ञानयोग, राजयोग, अष्टाङ्गयोग, समाधियोग एवं अध्यात्मयोग आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ।

हिरण्यगर्भ-प्रवर्तित योग की दूसरी शाखा कर्मयोग की परम्परा में किञ्चित् व्युत्थित चित्त से युक्त, संसार के कार्यों को करते हुए मोक्ष की ओर अग्रसरित होने वाले विस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु व अन्य राजर्षि हुए। इस शाखा का मूल तात्पर्य यह है कि जो सर्वकर्मसंन्यासी नहीं बन सकता, वह कर्मों का ईश्वर में अर्पण करते हुए कार्यफलों की आसक्ति से रहित व समाहितचित्त होकर योग सिद्ध कर सकता है। आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इस शाखा का उल्लेख **छान्दोग्योपनिषद्** में मिलता है। (तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतये, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः।।) (छा.उ.3.11.4) इसका विस्तार से वर्णन गीता में किया गया है। गीता के अनुसार जिस योग को परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, आदित्य आदि ऋषियों के माध्यम से विवस्वान् ने वंशपरम्परानुसार अपने पुत्र मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को ज्ञान दिया (वही इक्ष्वाकु, जिसे सूर्य राजवंश का प्रवर्तक कहा जाता है) इस वंश में राजर्षियों की लम्बी परम्परा चली। भगवान् राम का जन्म भी इसी वंश में हुआ था। इनके वंश में इस निष्काम कर्मयोग का दृढ़ अभ्यास था। तभी तो राज्याभिषेक के समय वन जाने का आदेश मिलने पर भी राम में अद्भुत समता भाव देखकर वशिष्ठ जी ने कहा था-**आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च। न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्यकारविभ्रमः।।** अर्थात् अभिषेक के लिए बुलाने पर तथा वन जाने का आदेश देने पर मैंने राम के मुख पर थोड़ा सा भी भाव-परिवर्तन नहीं देखा, दोनों स्थितियों में उनके मुख पर निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करने की प्रसन्नता खिली हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि विवस्वान् से चला कर्मयोग इक्ष्वाकु वंश के राजर्षियों में सुप्रतिष्ठित था।

कालान्तर में समय के प्रभाव से यह विद्या लुप्तप्राय हो गई। **योगेश्वर श्रीकृष्ण** अर्जुन को कहते हैं-हे अर्जुन मैंने किसी नई निष्ठा का उपदेश नहीं किया, किन्तु तुझे अपना विश्वसनीय मित्र समझ यह लुप्तप्राय सनातन योग का उत्तम रहस्य बताया है। (इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुर्इक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। एवं परम्पराप्राप्तमिमं

राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः॥ स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥)(गी.-4.1-3)

जब बड़े-बड़े विद्वान् राजा-महाराजा, ऋषि-महर्षि लोग महाभारत-युद्ध में मारे गए और बहुत से मर गये, तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। (पृ.-434, सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास (आर्यसमाज शताब्दी संस्करण) दुर्भाग्यवश महाभारत काल के पश्चात् यह सनातन -योग की परम्परा पुनः यथावत् नहीं रह पायी।

वेदोक्त-धर्म का प्रचार-प्रसार नष्टप्राय होने से समाज में क्रमशः अलग-अलग मत, पन्थ व सम्प्रदायों की स्थापना होने लगी, जिसे लोग 'धर्म' समझकर बैठ गए। उसके लिए जीना वे अपना स्वधर्म समझने लगे और अर्थ का अनर्थ करते हुए इस बात को खूब फैलाया कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः भयावहः' (श्री.भ.गी.-3.35) यही कारण है कि योग की पावनी परम्परा सम्पूर्ण समाज में फैल नहीं पायी। यद्यपि सभी सम्प्रदायों ने 'योग-संस्कृति' को सर्वोच्च स्वीकार करके किसी न किसी रूप में आत्मसात् किया, तथापि साम्प्रदायिक आग्रहों की वजह से तथा वेदोक्त धर्म को भलीभाँती न समझ पाने के कारण वे साम्प्रदायिकता के बन्धन नहीं तोड़ पाये। वस्तुतः सभी सम्प्रदायों के विद्यमान उच्च मूल्य एवं मान्यताएँ, तन व अन्तःकरण को स्वच्छ रखते हुए जन्म-जन्मान्तरों के बन्धन से छूटने की समग्र अवधारणा तथा साधना की वैज्ञानिक पद्धतियाँ और कुछ न होकर 'योग' ही है। महर्षि पतञ्जलि (अशोक के वंशज का अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ की 184 ई.पू. में हत्या कर पुष्यमित्र शंगु ने शंगु वंश की स्थापना की थी। इसी पुष्यमित्र शंगु के राजपुरोहित थे -महर्षि पतञ्जलि।)ने वेद, उपनिषद, साङ्ख्य आदि वैदिक ग्रन्थों में यत्र-यत्र बिखरी हुई योगविषयक सामग्रियों में से कुछ शब्दशः (क) स्थिरसुखमासनम् (यो.सू.-2.46 सा.सू.-3.34) (ख) वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।(यो.सू.-1.5,सा.सू.-2.33) तथा कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ एक जगह एकत्रित करते हुए क्रमिक तथा सुव्यवस्थित रूप में ग्रन्थबद्ध करने का महान् कार्य किया। तत्पश्चात् पातञ्जलयोग की गौरवशाली परम्परा समाज में आगे बढ़ती हुई आज हम तक पहुँची है।

भारतवर्षीय ऋषि-संस्कृति में बहुत सी ऐसी परम्पराएँ सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान रही हैं, जो मनुष्य की चेतना को उच्चतम बिन्दु की ओर प्रवाहित करते हुए उसे कल्याण के शिखर पर प्रतिष्ठित करती हैं। उन्हीं परम्पराओं में से सर्वोच्च योग परम्परा का हमेशा से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ऐतिहासिक काल प्रारम्भ होता है। इतिहास से पूर्व काल का कई विद्वान् दो भागों में विभाजन करते हैं-1. प्रागैतिहासिककाल व 2. आद्यैतिहासिककाल। प्रागैतिहासिक काल पाषाणकालीन लिपिरहित काल है। आद्यैतिहासिक काल को दो भागों में बाँटा गया है।1. पूर्व आद्यैतिहासिक काल व 2. उत्तर आद्यैतिहासिक काल। लेकिन कुछ विद्वान् ऐतिहासिक काल के पूर्व के समस्त काल को प्रागैतिहासिक काल के अन्तर्गत ही मानते हैं।पूर्व आद्यैतिहासिक काल वह काल है, जिसमें लिपि के साक्ष्य तो हैं किन्तु उसके अपव्यय या दुर्बोध होने के कारण उससे कोई निष्कर्ष नहीं निकलता है। पूर्व आद्यैतिहासिक काल के अन्तर्गत सिन्धु सभ्यता (2350ई.पू. -1750ई.पू.) को लिया जाता है। उत्तर आद्यैतिहासिक काल वह है, जिसकी लिपि पढ़ी जा सकती है। इस काल को वैदिक काल कहा जाता है।

वैदिक काल को आधुनिक इतिहासकारों के द्वारा पुनश्च दो भागों में वर्गीकृत किया गया है- (क) ऋग्वैदिककाल (ख) उत्तरवैदिककाल। ऋग्वैदिककाल में ऋग्वेद तथा उत्तरवैदिक काल में तीन वेद (यजुर्वेद, समावेद व अथर्ववेद), ब्राह्मण, आरण्यक व कुछ उपनिषदों को लिपिबद्ध किया गया। इस प्रकार वैदिककाल यद्यपि आधुनिक इतिहासकारों की दृष्टि से मात्र तीन से पाँच हजार वर्ष पुराना है, परन्तु धर्म, दर्शन संस्कृति से सम्बद्ध उपलब्ध विपुल ग्रन्थों में विद्यमान विविध साक्ष्यों तथा किसी भी तरह की भ्रान्तियों व पूर्वाग्रहों से मुक्त एवं तर्क, तथ्य व प्रमाण के आधार पर शोध-अनुसन्धान करने वाले इतिहासकारों की मानें, तो इसकी शुरुवात सृष्टि की उत्पत्ति के साथ-साथ हुई है। ज्ञान-विज्ञान की वैदिक परम्परा सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ हुई और आगे यह परम्परा श्रुति-परम्परा, गुरु-शिष्य परम्परा आदि परम्पराओं से होकर मानव जाति को प्रकाश देती रही। ऋग्वेदादि वैदिक ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक कार्य 1500 ई.पू. से लेकर 600 ई.पू. के बीच हुआ या इससे पूर्व हुआ, इस बात का निश्चय करने हेतु अभी भी बहुत शोध व अनुसन्धान की आवश्यकता है।

इतिहास के विविध कालखण्डों में सृजित साहित्य व पुरातात्विक अवशेष आदि से स्पष्ट होता है कि योग का महत्त्व सार्वकालिक रहा है। इतना ही नहीं, वैदिक सनातन ऋषि-परम्परा, हिन्दु परम्परा, बौद्ध परम्परा, जैन परम्परा, सिद्ध परम्परा, सन्त परम्परादि समस्त धर्म, दर्शन, सभ्यता व संस्कृति आधारित परम्पराओं में प्राण रूप में योग परम्परा हमेशा से समाहित रही है। योग साधना को कमोवेश दुनियाँ की सभी परम्पराओं ने अपनाया है। अतः इसका महत्त्व सार्वकालिक व सार्वभौमिक रहा है।

● 1.3- वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, और पुराण- संक्षिप्त परिचय-

■ वेद-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दाथंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।

सर्वपूजनीय, सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद, (यजुः) यजुर्वेद, (सामानि) सामवेद, (छन्दाथंसि) अथर्ववेद, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसलिए सब मनुष्यों को वेदोक्त रीति से जीवन जीना चाहिए।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वदेव सः ।

अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसका रूपक अलंकार के रूप में वर्णन इस प्रकार है। ईश्वर कहता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समान है, सामवेद लोम के समान, यजुर्वेद हृदय के सामान और ऋग्वेद मेरे प्राणों के सामान है। (ब्रूहि कतमः स्वदेव सः) प्रश्न है, चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए वह देव कौन सा है उसको तुम मुझसे कहो? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (स्कम्भं तं) जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर उसका नाम स्कम्भ है। उसी को तुम वेदों का कर्ता जानो उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा ईष्टदेव नहीं हो सकता। उसी की उपासना करने योग्य है। इस विषय में कुछ लोग ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकर उससे शब्द रूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

इसका उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शक्ती करनी सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य होने से वह उन्हें यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों में आ सकता है कि मुखादि के बिना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं। क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं।

और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि मन में मुखादि अवयव नहीं हैं। तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिए। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला है जो किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग बिना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते हैं वैसे ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया, तब वेदों के रचने में क्या शक्ती रही? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या की रचना ईश्वर ने की है, वैसे ही जगत् में भी माँ के गर्भ में सभी अंग-प्रत्यंगो सहित नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचना को किया है तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता?

वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं? एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख तिरपेन हजार एक सौ पन्द्रह अर्थात् (1960853115) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति की उत्पत्ति में हो गये हैं। यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं? यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवाँ वैवस्वत मनु चल है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वयम्भव 1, स्वारोचिष 2, औत्तमि 3, तामस 4, रैवत 5, चाक्षुष 6, ये छः तो बीत चुके हैं और सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर अब चल रहा है, और इकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर रखा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (1728000) सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम सतयुग रखा है (1296000) बारह लाख छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता, (864000) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (432000) चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रखा है। इन चारों युगों के (4320000) तितालिस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (71) चतुर्युगियों के अर्थात् (306720000) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (1840320000) एक अरब, चौरासी करोड़,

तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (28) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी में कलियुग के (4115) चार हजार, एक सौ, पन्द्रह वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (427024) चार लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (120532115) बारह करोड़, पांच लाख बत्तीस हजार, एक सौ पन्द्रह वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग हो चुके हैं और (186187024) अठारह करोड़ इकसठ लाख सतासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी, रहे हैं। **वेद नित्य हैं**— जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे अनित्य होते हैं क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि हैं उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। वेद भी उस ईश्वर के विद्यारूप और अनादि हैं उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसके विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

अब वेदों की नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन-कौन विषय किस-किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है। वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं— (1) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (2) दूसरा कर्म, (3) तीसरा उपासना, और (4) चौथा ज्ञान है। 'विज्ञान' उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना, **इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है, क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है।** सो भी दो प्रकार का है— एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना, अर्थात् ईश्वर ने कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिए रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। ज्ञान और विज्ञान मुख्य रूप से ऋग्वेद का विषय है, यजुर्वेद में कर्म तथा सामवेद का मुख्य विषय उपासना है। अथर्ववेद में तीनों विषयों का मिश्रण है इसे त्रयी विद्या भी कहते हैं। (महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ का नाम प्रमाण रूप में)

ईश्वरीय होने के कारण वेद निर्भ्रान्त, नित्य, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सर्वहितकारी व पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान के महान् ग्रन्थ हैं। वेद अपौरुषेय है। पवित्र ऋषियों की आत्मा में जो ईश्वरीय प्रेरणाएं सृष्टि के आदिकाल में ज्ञान के रूप में प्रकट हुईं, उसी ईश्वरीय ज्ञान को हम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के रूप में जानते-मानते हैं।

व्यक्ति के ज्ञान में न्यूनता, भ्रान्ति व स्वार्थ की सम्भावना हो सकती है। परन्तु वेदों का ज्ञान पूर्ण व निर्भ्रान्त है।

अतः वेदों के मन्त्रों को ईश्वर का ज्ञान, उसका आदेश व निर्देश तथा अपने जीवन का कर्तव्य मानकर पूरी प्रामाणिकता के साथ हमें वेदानुकूल आचरण ही करना चाहिये।

यों तो चारों वेदों में 20416 ऋचाएं हैं, सभी मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं फिर भी इतने मन्त्र सब याद नहीं कर सकते, न ही इतने मन्त्रों को समझने का सामर्थ्य सबमें है तथापि वेदों से मुख्य-2 लगभग 100 सूक्त तो अर्थ सहित सभी को याद कर लेने चाहियें। इसके साथ ही आध्यात्म विद्या के महान् ग्रन्थ उपनिषदों के कुछ अत्यन्त प्रेरणाप्रद महान् मन्त्रों या ऋचाओं को सभी साधकों को अवश्य याद करना चाहिये तथा इन मन्त्रों के अनुरूप आचरण करके अपने जीवन को तो आदर्श बनाना ही चाहिए ही साथ ही एक आदर्श राष्ट्र के निर्माण में भी एक बहुत बड़ी भूमिका निभानी चाहिए।

■ उपनिषद्—

प्राचीन-भारत के नभोमंडल की जाज्वल्यमान तारकावली में उपनिषद् वे सितारे हैं जिनका प्रकाश जीवन-यात्रा की घटाटोप अन्धकारपूर्ण रात्रि में हजारों सालों से बटोही का मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है। मैं किधर जाऊं, मेरा सही रास्ता कौन-सा है, बीसियों पग-डंडियों में से किस पर चलने से मैं अपने लक्ष्य तक पहुंचूंगा—यह प्रश्न जैसे नचिकेता के हृदय में उठा, जैसे मैत्रेयी के हृदय में उठा, वैसे आज भी हर-एक युवक-युवति के हृदय में उठता है, परन्तु आज के उत्तर से नचिकेता और मैत्रेयी को भिन्न उत्तर मिला था, और वे हमसे भिन्न मार्ग पर चले थे। यह नहीं कि वे उस मार्ग पर चल नहीं सकते थे जिस पर आज का भौतिकवादी-जगत् चलता चला जा रहा है। भौतिकवादी-मार्ग पर चलने की भी उन्हें खुली छूट थी, परन्तु उन्होंने इस मार्ग को यह कहकर छोड़ दिया था—'न विन्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—मनुष्य

की धन-धान्य से अन्तिम तृप्ति नहीं हो सकती-‘तवैव राजन् मानुषं वित्तम्’-यह रुपया-पैसा मेरे अन्तरतम की बेचैनी को दूर नहीं कर सकता, यह अपने पास रख -‘अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन’-वित्त से संसार के सुख-भोग मिल सकते हैं, आत्मा को जिस अमरता की तलाश है वह इससे नहीं प्राप्त होती! आत्मा की अमरता का यह सन्देश भौतिकवाद की दलदल में फंसे हुए हम लोगों के कानों में भी पड़ता है, हमारे जीवन में भी समय आता है, जब हम इधर नहीं उधर देखने लगते हैं, प्रकृति की तरफ नहीं परमात्मा की तरफ मुंह उठाकर अनित्य के स्थान में नित्य की तलाश करने लगते हैं, हम भी समझ जाते हैं-‘न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः’-‘अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन’- परन्तु हम बहुत देर में समझते हैं, ऐसे समय समझते हैं जब इस तत्व को समझने का जीवन में हम कोई क्रियात्मक लाभ नहीं उठा सकते। कौन भौतिकवादी है जो संसार की चकाचौंध में सारी आयु गुजार देने के बाद एक दिन यह नहीं देख लेता कि यह-सब धोखा था, इसमें से कुछ भी तो टिकने वाला न था, परन्तु जब उसकी आंखें खुली, तब उसके हाथ में क्या रह गया था? इसको नित्य मानकर उसने झूठ बोला, दुराचार किया, अत्याचार किया, खून बहाया, अबाही-तबाही मचाई, परन्तु यह सब तो एक भूल-भुलैया का गोरखधंधा था, असली वस्तु, वह वस्तु जिसकी उसे तलाश थी, जिसे वह जन्म-जन्मान्तर से ढूँढ रहा था, जो हाथ आती-आती उसके हाथ से निकल जाती थी, उसे तो वह छू तक न सका था! यह भावना हर मनुष्य के जीवन में किसी-न-किसी समय साकार बनकर खड़ी हो जाती है, अध्यात्मवादी के जीवन में बहुत पहले, भौतिकवादी के जीवन में बहुत देर बाद, परन्तु देर में या अबेर में, यह कठोर, निष्ठुर सत्य, हम मानें, न मानें, किसी का पीछा नहीं छोड़ता, नहीं छोड़ता। इस आधार-भूत सच्चाई को जिन्होंने पकड़ लिया था, उन्होंने इस सच्चाई की दिग्दिगन्त में घोषणा कर दी थी, उन्होंने ऐलान किया था-‘इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीन्महती विनष्टिः’-अगर इसे यहां, इस जन्म में, पा लिया तो ठीक, नहीं तो महानाश ही महानाश है। ऐसी घोषणा करने वाले प्राचीन-भारत के ऋषि-मुनियों ने जिस सत्य का दर्शन किया था, इस भौतिक-संसार को सत्य मानते हुए भी इसके पीछे छिपे हुए, इसके भी प्राण, इसके भी जीवन जिस सत्यों के सत्य, जिस तत्त्वों के तत्व के दर्शन किये थे, उसका नाम उन्होंने ‘ब्रह्म’ रखा था, और संसार-भर का ध्यान इससे उसकी तरफ खींचने के लिए जिस विद्या को उन्होंने जन्म दिया था, उसका नाम ‘ब्रह्मविद्या’ रखा था, ‘ब्रह्मविद्या’ का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का नाम ही ‘उपनिषद्’ रखा था।

उपनिषद् के रहस्य को समझने के लिए एक बात और समझ लेनी जरूरी है। ऋषियों का कहना था कि ब्रह्म को ढूँढने के लिए कहीं दूर भटकने की जरूरत नहीं। जो-कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही-कुछ पिंड में है। विज्ञान भी तो यही कहता है कि जो नियम परमाणु में काम कर रहे हैं, ठीक वही नियम सौर-मंडल में काम कर रहे हैं। इसी बात को उपनिषद् के ऋषि और आगे ले गये हैं। उनका कहना है कि जो नियम भौतिक में काम कर रहे हैं, वही आध्यात्मिक में काम कर रहे हैं। इस बात को प्रकट करने के लिए उपनिषद् में ‘अथाधिदैवतम्’ तथा ‘अथाध्यात्मम्’- इन दो वाक्यों का प्रयोग किया गया है। ‘अथाधिदैवतम्’ का अभिप्राय है- देखो, ब्रह्माण्ड में क्या नियम काम कर रहे हैं; ‘अथाध्यात्मम्’ का अभिप्राय है- देखो, वही नियम पिंड में काम कर रहे हैं! अधिदैवत तथा अध्यात्म, ब्रह्मांड (Macrocosm) तथा पिंड (Microcosm)- इन दोनों की एकात्मता को समझ लेना उपनिषद् के रहस्य को समझ लेना है। हमने इस एक गुर का सहारा लेकर कठिन-से-कठिन स्थलों को बड़ी आसानी से खुलते देखा है, और यह अनुभव किया है कि इस तत्व को गाँठ बाँध लिया जाय, तो उपनिषद् की कोई बात उलझी नहीं रहती।

जैसे भौतिकवादी प्रकृति तथा शरीर को यथार्थ समझता है, वैसे उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है, उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म का ‘एकत्व’ या ‘आत्म-तत्त्व’ है। उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि यह युक्ति से सिद्ध करने की जरूरत नहीं कि संसार टिकनेवाली वस्तु नहीं है, यह तो हम सब का अनुभव है कि शरीर में से जब प्राण निकलने लगता है, तब आँख, नाक, कान सब इन्द्रियाँ भागने लगती हैं, फिर हम इसमें क्यों उलझे रहें, उस आत्म-तत्त्व को पाने का यत्न क्यों न करें जिसके कारण यह सब-कुछ है, और जिसके बिना यह सब-कुछ रहता हुआ भी नहीं रहता, होता हुआ भी क्षण भर में नहीं हो जाता है? यह विचार उपनिषद् के पृष्ठ-पृष्ठ पर, पंक्ति-पंक्ति पर अंकित है। यही उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद् की दृष्टि है भौतिक उन्नति गौण है, आध्यात्मिक उन्नत मुख्य या सर्वोच्च है। भौतिक समृद्धि व संसाधन ये साधन है। साध्य आत्मबोध निर्वाण मोक्ष या जीवन

की पूर्णता है।

■ षड्दर्शन—

जब से मनुष्य का इस धरा-धाम पर प्रादुर्भाव हुआ तभी से उसने सोचना आरम्भ किया—मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ, मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? यह संसार क्या है? इस संसार से मनुष्य का छुटकारा कैसे हो सकता है? यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? इस सृष्टि का स्रष्टा कौन है? सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परमात्मा की उपलब्धि कैसे हो सकती है? आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का परस्पर क्या सम्बन्ध है? ये और इस प्रकार के न जाने कितने प्रश्न उसके हृदय और मस्तिष्क में चक्कर काटते रहे। तत्त्वदर्शियों के मत में मनुष्य को इन विषयों का तत्त्वज्ञान हो सकता है। इसी तत्त्वज्ञान को भारतीय मनीषियों, चिन्तकों और विचारकों ने 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। तत्त्वज्ञान होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालते। तत्त्वज्ञान मनुष्य को कर्म-बन्धन से छुड़ा, प्रकृति और पुरुष का विवेक कराकर मानव-जीवन के चरम लक्ष्य=मोक्ष तक पहुँचा देता है।

व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार दर्शन का अर्थ है—

दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम् जिसके द्वारा देखा जाए। क्या देखा जाए? वस्तु का तात्त्विक स्वरूप। इस जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? यह जड़ है या चेतन? इस संसार में हमारा कर्तव्य क्या है? जीवन को श्रेष्ठ, सुन्दर और सुखी बनाने के साधन क्या हैं? हम कौन हैं? परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना दर्शनों का कार्य है।

पाश्चात्य विचारधारा वाले दर्शन के लिए फिलॉसफी (Philosophy) शब्द का प्रयोग करते हैं। फिलॉसफी शब्द दो ग्रीक शब्दों के मेल से बना है—फिलॉस+सोफिया। फिलॉस का अर्थ है प्रेम, अनुराग और सोफिया का अर्थ है 'विद्या'। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ हुआ विद्या का प्रेम=विद्यानुराग। आरम्भ में फिलॉसफी में विज्ञान का भी समावेश था, परन्तु पाश्चात्य देशों में दर्शन और विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है।

भारतीय दर्शनों की कुछ विशेषताएँ

भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ी विशेषता उनका व्यावहारिक पक्ष है। उनका उद्देश्य है नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित मनुष्यों को राग-द्वेष और अविद्या से छुड़ाकर मोक्ष यथार्थ ज्ञान व तदरूप आचरण की प्राप्ति करा देना

भारतीय दर्शन की दूसरी विशेषता है— आशावाद। दुःखमय वर्तमान से असन्तोष हुए बिना सुखमय भविष्य की कल्पना दुराशामात्र ही है। इस जगत् पर दृष्टिपात करने पर विवेकीजन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है रागद्वेष और रागद्वेषयुक्त प्रवृत्ति ही हमारे समस्त दुःखों का कारण है, तथा विवेक पूर्ण विद्यायुक्त जीवन की समस्त दुःखों का समाधान है। इस दुःख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, इस दुःख को दूर करना है और दुःख को दूर करने के लिए मार्ग खोजना है। इस प्रकार भारतीय दर्शन वर्तमान दशा से असन्तोष प्रकट कर उसके सुधराने का प्रयत्न करता है।

भारतीय दर्शन की तीसरी विशेषता है— नैतिकव्यवस्था में विश्वास। मनुष्य जो कर्म करता है, उनका लोप नहीं होता अपितु उन कर्मों से एक 'अपूर्व' की सृष्टि होती है। यही अपूर्व फलोत्पत्ति का प्रधान कारण है। न्याय-वैशेषिक में इसी 'अपूर्व' को अदृष्ट की संज्ञा दी गई है।

भारतीय दर्शन की चौथी विशेषता है— कर्मसिद्धान्त। मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका नाश कभी नहीं होता तथा जिस फल को हम भोग रहे हैं। वह पूर्व जन्म में किये हुए कर्म का ही फल है। कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार कर मनुष्य जहाँ एक ओर घोर पाप करने से बच जाता है, वहाँ दूसरी ओर शुभ कर्मों के अनुष्ठान से अपने आगामी जीवन को उच्च एवं महान् बना सकता है।

भारतीय दर्शन की पाँचवीं विशेषता है— मोक्षमार्ग का निर्देश। संसार में बन्धन का कारण है अविद्या। अविद्या से बन्धन होता है और ज्ञान से मुक्ति। जीवन-यापन के दो मार्ग हैं— प्रेय और श्रेय। विवेकपूर्वक सांसारिक सुखों का उपभोग यह प्रेय है तथा इस भौतिक सुख से भी अन्ततः विवेक के साथ वैराग्य होने पर अनासक्त होकर आत्मिक सुख-शान्ति व जीवन की पूर्णता की ओर बढ़ना श्रेय है। श्रेय मार्ग मनुष्य के मङ्गल का मूल है। दर्शनकार इस

मङ्गल-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए यम-नियम आदि अष्टाङ्ग योग का विधान करते हैं। मनुष्य को जैसे भी हो इस संसार के उच्छेद के लिए, त्रिविध तापों से छूटने के लिए, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए महान् पुरुषार्थ करना चाहिए।

दर्शनों का काल

दर्शन कब लिखे गये, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। दर्शनकारों ने इस विषय में कोई लिखित प्रमाण नहीं छोड़ा है। परन्तु एक बात सुनिश्चित है कि सभी दर्शन ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं और ऋषियों का युग महाभारत तक अविच्छिन्न रहा है। अतः दर्शन महाभारत से पूर्व और महाभारत-काल के आस-पास लिखे गये ऐसा अनुमान है। इस प्रकार दर्शनों का समय आज से कम-से-कम पाँच सहस्रवर्ष पूर्व है। पाश्चात्य लेखकों द्वारा निर्दिष्ट काल सर्वथा भ्रामक, तथ्यों से दूर और युक्तिशून्य है। दर्शन छः हैं और इनमें दो-दो दर्शनों का युगल है। सांख्य व योग दर्शन, वैशेषिक व न्याय दर्शन, वेदान्त व मीमांसा दर्शन।

सांख्यदर्शन—

सांख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल हैं। इस दर्शन के प्रारम्भ में ही मोक्ष, जो कि मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं— **अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।** अर्थात् आदि भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीन प्रकार के दुःखों से अतिशय मुक्ति ही पुरुष का परम प्रयोजन है। योग दर्शन के अनुसार भोग और अपवर्ग के प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य है। सांख्य मोक्ष शास्त्र है अतः प्रथम सूत्र में ही अपवर्ग का उल्लेख महर्षि कपिल ने किया है। जिस मोक्ष का प्रतिपादन करने के लिए इस शास्त्र का प्रारम्भ किया जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है, सूत्रकार ने अतिसंक्षेप में उसका निर्देश किया— ‘त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिः’ तीन प्रकार के दुःखों से अतिशय छूट जाना। संसार में हम दुःखों से छूटने के लिए धन आदि अनेक उपायों का प्रयोग करते हैं, थोड़े बहुत समय के लिए हम किसी एक दुःख से छुटकारा पाते भी हैं, पर फिर हमें शीघ्र अन्य दुःखसमूह आ घेरता है, किसी एक दुःखनिवृत्ति के काल में भी अन्य दुःख आते रहते हैं। इस प्रकार सांसारिक साधनों के द्वारा न तो हमारे दुःख अधिक समय के लिए छूट पाते हैं और न उतने काल में नैरन्तर्य की स्थिति आ पाती, क्योंकि जितने समय के लिए कोई कष्ट दूर होता है, उसके अन्तराल में अन्य कष्ट आ उपस्थित होते हैं। अतएव इन अवस्थाओं को परमपुरुषार्थ, मोक्ष या अपवर्ग नहीं कहा जा सकता। मोक्ष की अवस्था वही है, जहाँ तीनों प्रकार के दुःखों की अधिकाधिक समय के लिए निवृत्ति हो जाय और उसमें नैरन्तर्य की अवस्था बनी रहे। अभिप्राय यह है कि उतने समय में किसी प्रकार के दुःख का अस्तित्व न रहना चाहिये।

दुःख के समस्त प्रकारों का तीन वर्ग में समावेश किया गया है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधि दैविक। आध्यात्मिक दुःख वह है, जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का है, एक शारीरिक दूसरा मानस। शरीर के वात, पित्त कफ आदि की विषमता से अथवा आहार, विहार आदि के वैषम्य से जो दुःख उत्पन्न हो जाता है, वह ‘आध्यात्मिक शारीर’ दुःख कहा जाता है, तथा जो काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, राग आदि मनोविकारों के कारण दुःख उत्पन्न होता है, उसे ‘आध्यात्मिक मानस’ दुःख कहते हैं। आधिभौतिक वह दुःख है, जो अन्य भूतों अर्थात् प्राणियों के द्वारा हमें प्राप्त होता है। सांप, बिच्छू आदि के काटने से, अन्य हिंसक प्राणियों द्वारा आघात पहुंचाने से, किसी के मारने पीटने अथवा कटु वाक्य कहने से, इसी ढंग की किसी भी रीति से होने वाला दुःख इस वर्ग में आता है। आधिदैविक दुःख वह है, जो वर्षा, आतप, हिमपात, विद्युत्पात भूकम्प तथा वायु आदि जनित उत्पातों के कारण उत्पन्न होता है।

इन तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अथवा आत्मा का इन दुःखों से अलग हो जाना अत्यन्तपुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहा जाता है, उसके प्रतिपादक शास्त्र का प्रारम्भ करते हैं।

चिकित्साशास्त्र के समान यह मोक्षशास्त्र भी चतुर्व्यूह होता है। चिकित्सा शास्त्र में जैसे रोग, रोग का

निदान, आरोग्य तथा आरोग्य के हेतु-भैषज्य आदि का प्रतिपादन होकर शास्त्र की पूर्णता होती है, इसी प्रकार मोक्षशास्त्र में हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय इन चार समूहों का प्रतिपादन होता है। दुःख 'हेय' है, अर्थात् त्याज्य, जिससे हम छुटकारा चाहते हैं। अविवेक 'हेयहेतु' है, सांख्यशास्त्र में, आत्मा के दुःख का कारण 'अविवेक' बताया गया है, चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात् ज्ञान न होना अविवेक है। जब तक प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार या ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक आत्मा दुःख भोगा करता है। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही 'हान' है। इस प्रकार मोक्ष का अपर नाम हान होता है। इसका उपाय है- विवेकख्याति, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का शास्त्र। प्रथम सूत्र में 'हेय' और 'हान' इन दो व्यूहों का संक्षेप से निर्देश किया गया है। अब 'हानोपाय' अर्थात् मोक्ष के साधनों का प्रतिपादन करना है, जो शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन है।

सांख्य के अनुसार तत्त्व पच्चीस हैं- प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएं, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत और पुरुष।

सांख्य का एक प्रमुख सिद्धान्त है- 'सत्कार्यवाद' अर्थात् जो कुछ इस जगत् में है वह सदा से है, और जो नहीं है वह कभी नहीं होता। इसके दो रूप हैं- परिणामवाद और विवर्तवाद।

सत्त्व, रज और तम- इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है।

प्रकृति और पुरुष का संयोग अन्धे और लंगड़े का संयोग है। दोनों मिलकर रास्ता तय करते हैं। प्रकृति भोग्या और पुरुष भोक्ता है। परस्परापेक्षा रखने वाले इस प्रकृति व पुरुष के द्वारा सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

योगदर्शन-

योगदर्शन महर्षि पतंजलि की रचना है। इस ग्रन्थ में चार पाद हैं। सूत्रों की संख्या 194 है। आकार की दृष्टि से यह दर्शनों में सबसे छोटा है परन्तु महत्त्व की दृष्टि से सब दर्शनों में महान् है।

योग शब्द के अनेक अर्थ हैं। युजिर्-योगे तथा 'युज्-समाधौ' धातु से योग शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है जुड़ना या समाधि को प्राप्त करना। अर्थात् आत्मा का परमात्मा के साथ जुड़ना या असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करना। समाधि को प्राप्त करने के लिए अभ्यास और वैराग्य का प्रबल साधन के रूप में महर्षि पतंजलि ने निर्देश दिया है। अलग-अलग साधकों की चित्त की स्थिति के अनुसार योगदर्शन के चारों पादों में अलग-अलग विधि से समाधि को प्राप्त करने के उपाय महर्षि पतंजलि ने निर्देशित किये हैं, किन्तु सभी विधाओं का गन्तव्य अविद्या का नाश, संस्कारों को दग्धबीज करके भोग व अपवर्ग को प्राप्त करना है।

योगशास्त्र के चार व्यूह - जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और आरोग्य के उपाय (औषध) ये चार व्यूह हैं, इसी प्रकार योगशास्त्र में संसार, संसार हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय-ये चार व्यूह माने जाते हैं। दुःखमय संसार हेय है। प्रकृति का संयोग दुःखमय संसार का हेतु है। प्रकृति के संयोग की आत्यान्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है और उसका उपाय है- सम्यग् दर्शन या विवेक ख्याति है। क्लेशों से मुक्ति पाने और चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ अंगों का अभ्यास करना आवश्यक है।

साधना की विभिन्न पद्धतियों में पतंजलि का अष्टाङ्गयोग सार्वभौमिक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक, प्रामाणिक व वैज्ञानिक माना जाता है, जिसके आठ अंग निम्न हैं-

1. **यम**-का अर्थ है संयम। यम पाँच हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
2. **नियम**-भी पाँच हैं-1.शौच-आन्तरिक और बाह्य शुद्धि 2. सन्तोष, 3. तप, 4. स्वाध्याय और 5. ईश्वरप्रणिध्यान
3. **आसन**-स्थिरता और सुखपूर्वक एक ही स्थिति में बहुत देर तक बैठने का नाम आसन है। ध्यान के लिए सिद्ध, पद्म, सुख, स्वस्तिक आदि अनेक आसन हैं।
4. **प्राणायाम**-श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम अर्थात् श्वास, प्रश्वास की गति के सामान्य प्रवाह को रोककर विशेष गति में आने का नाम प्राणायाम है।
5. **प्रत्याहार**-इन्द्रियों को रूप, रस आदि अपने-अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने का नाम

प्रत्याहार है।

6. धारणा-चित्त को नाभिचक्र, आज्ञाचक्र आदि किसी स्थान में स्थिर कर देना धारणा है।
7. ध्यान-किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब तेलधारावत् एक प्रवाह में संलग्न होता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान में ध्यान, ध्येय और ध्याता का पृथक्-पृथक् भान होता है।
8. समाधि-जब ध्यान ही ध्येय के आकार में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे तो वही समाधि है। समाधि में ध्यान और ध्याता का भान नहीं होता, केवल ध्येय रहता है।

योगदर्शन में ईश्वर-क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और उनसे उत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के पुरुष को ईश्वर कहते हैं। उसका सर्वश्रेष्ठ नाम प्रणव = ओम् है। ओम् के अर्थसहित जप से अपने स्वरूप का साक्षात्कार और योग के विघ्नों का नाश होता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः चित्त की वृत्ति के पार जब आत्मा अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव में या यू कहें अपने पूर्ण सुखमय, पूर्ण ज्ञानमय, आनन्दमय एवं शान्तिमय स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब योग होता है। योगी अपने स्वरूप को उपलब्ध करके या भगवान् के साथ एकत्व स्थापित करके भगवान् के दिव्यज्ञान, दिव्यसुख व दिव्य सामर्थ्य से युक्त होकर दिव्य सुख, शान्ति व समृद्धि को उपलब्ध होकर दिव्य जीवन जीता है व समष्टि में भी दिव्यता व शुभ की प्रतिष्ठा करता है।

न्यायदर्शन-

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। 'न्याय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है परन्तु दार्शनिक साहित्य में 'न्याय' का अर्थ है- नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः। नीयन्ते येन सत्यं प्रति इति-न्यायम्। दृश्यते अनने अस्मिन् वा इति-दर्शनम्। अर्थात् जो हमें सत्य की ओर ले जाता है या सत्य का दर्शन कराता है वह न्यायदर्शन है। न्यायदर्शन को प्रमाण प्रधान शास्त्र भी कहा जाता है। प्रमाणैरर्थपरीक्षणमिति न्यायः प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण जिसमें किया जाता है वह न्यायदर्शन है। न्यायदर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या भी कहते हैं। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्याडन्वीक्षणमन्वीक्षा। बिना प्रमाण के सामान्य रूप से जो ज्ञान हो रहा था, उसे प्रत्यक्ष या आगमादि प्रमाणों से गहराई से ठीक-ठीक जानना आन्वीक्षिकी विद्या है। प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।

यह श्लोक न्याय दर्शन के लिए कहना बिल्कुल सटीक लगता है। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। यह उनका गोत्र नाम है उनका निज नाम मेधातिथी माना जाता है। उन्हें अक्षपाद भी कहते हैं अर्थात् पैर में हैं आंखें जिसकी, अर्थात् वे बहुत जागरूकता से देख-देखकर जो एक-एक कदम रखते हैं। गौतम का अर्थ है गोभिः ध्वस्तो तमः यस्य-कुशल इन्द्रियों के द्वारा ध्वस्त हो गया है तमस् जिसका। न्यायकार का समय लगभग 500 ई. पूर्व रहा होगा ऐसा विद्वानों का मानना है, कुछ लोग इसे अति प्राचीन रामायण आदि से पूर्व का भी मानते हैं, रावण ने न्याय दर्शन पढ़ा हुआ था, ऐसा मानना है। लेकिन ज्यादातर विद्वानों के मत से पाणिनी ऋषि के समकालीन रहे होंगे ऐसा प्रतीत होता है चूँकि पाणिनि का काल भी लगभग 500 ई. पूर्व. माना जाता है। इसके भाष्यकार वात्स्यायन मुनि इनसे लगभग सौ वर्ष बाद माने जाते हैं। कुछ लोग चाणक्य को ही वात्स्यायन मानते हैं किन्तु यह विचारणीय है। उनका काल मौर्य काल मानते हैं। समस्त आस्तिक दर्शनों की भाँति न्यायदर्शन का परम प्रयोजन अपवर्ग या मोक्ष ही है। यह बात सूत्र कार ने प्रथम सूत्र में ही स्पष्ट कर दी है।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसः। (न्यायदर्शन-1.1) अर्थात् इन 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निश्रेयस या अपवर्ग की प्राप्ति होती है और उस अपवर्ग का उपाय भी दूसरे ही सूत्र में बता दिया। **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां ज्ञानाम्-उत्तरोत्तापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।** (न्यायदर्शन-1.2) जिस प्रकार वैद्यकशास्त्र व योगदर्शन 4 स्तम्भ वाले हैं- 1. रोग, 2. रोग का कारण, 3. आरोग्य, 4. आरोग्य का उपाय। हेय, हेयहेतुः, हान, हानोपाय। उसी प्रकार न्याय दर्शन में भी प्रमेयों को

चतुर्विध विभाजन किया है। दुःख, दुःख का हेतु अपवर्ग, अपवर्ग का उपाय। 1. दुःख, 2. दुःख का हेतु- सकाम कर्म और दोष (राग, द्वेष, मोह की त्रिराशि) 3. अपवर्ग- जो हमारा अधिगन्तव्य है। 4. अपवर्ग का उपाय - तत्त्वज्ञान-**सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः।** न्यायकार की शैली इस प्रकार है- पहले उद्देश, लक्षण और फिर परीक्षा। **त्रिविधा चाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः।** 1. पदार्थ का अभिधेय मात्र बताना- उद्देश। 2. उसका दूसरों से व्यवच्छेदक धर्म बताना- लक्षण। 3. वह यथालक्षण उपन है या नहीं, इसका अवधारण करना- परीक्षा। न्यायदर्शन पढ़ने से अवैदिक लोगों के बौद्धिक आक्रमणों से हमें सुरक्षित रखने में न्यायदर्शन की अहम् भूमिका रही है। न्यायकार कम शब्दों में अपने गम्भीर गन्तव्य को प्रकट कर देते हैं और कई जगह तो भाषा इतना सरल है कि बिना भाष्य के ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। न्यायदर्शन की शैली अत्यन्त मोहक व सारगर्भित है। अध्यायों व अह्निकों में इसकी रचना हुई है। इसमें पाँच अध्याय, 10 अह्निक 84 प्रकरण तथा 528 सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में 16 पदार्थों के उद्देश, लक्षण तथा प्रयोजन दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, अवयव, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा हेत्वाभास और छल की परीक्षा हो गई। द्वितीय अध्याय में संशय और प्रमाणों की विस्तृत परीक्षा की गई है। तृतीयाध्याय में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ बुद्धि और मन की विस्तार से परीक्षा हुई। चतुर्थाध्याय में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग की परीक्षा बहुत ही रुचिकर लगी। पाँचवें अध्याय में 24 जाति, 22 निग्रह स्थानों की विस्तृत व्याख्या हुई। इस प्रकार यह न्यायदर्शन का संक्षिप्त वर्णन है।

वैशेषिकदर्शन-

वैशेषिक का अर्थ है- **विशेष पदार्थमधिकृत्य शास्त्रं वैशेषिकम्।** वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। उनका अपना सांसारिक नाम चाहे जो रहा हो किन्तु कृषक जब अपने खेतों से फसल काटकर ले जाते हैं, तब उससे झड़े हुए अन्न के कण (दाने) जो खेत में पड़े रह जाते थे उनको बीन कर यह ऋषि इकट्ठा कर लेता और उसी से अपना जीवन निर्वाह करता था। 'कणानां अत्ति' इति कणाद। जो कणों को खाकर अपना गुजारा करता हो उसे कणाद कहते हैं। हमारे ऋषि ऐसे ही अपरिग्रही प्रवृत्ति के होते थे जैसे पिप्लाद आदि। षड्दर्शनों में दो-दो दर्शनों का युगल है सांख्य और योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा व वेदान्त (उत्तर मीमांसा)। सांख्य और योग दर्शन में जहाँ पुरुष और प्रकृति जैसे सूक्ष्म विषय का विश्लेषण कर, संसार की अतिसूक्ष्मता से हमारा परिचय ऋषि कराते हैं तो वहीं, न्याय व वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के स्थूल स्वरूप से प्रारम्भ करके सूक्ष्मता तक पहुँचते हैं, लेकिन लक्ष्य सभी दर्शनों का एक ही है, मनुष्य का स्थूल व सूक्ष्म अस्तित्व से परिचय करवाकर उसे समस्त दुःखों से मुक्त कराकर अपवर्ग तक पहुँचाना दर्शनों का आपस में कोई अन्तर्विरोध भी नहीं है उदाहरणार्थ- सांख्य क्योंकि इन्द्रियों की सूक्ष्मशक्ति का वर्णन कर रहा है इसलिए वह इन्द्रियों को अभौतिक मान रहा है लेकिन न्याय और वैशेषिक इन्द्रियों के स्थूल स्वरूप व धर्मों का वर्णन कर रहा है अतः इन्द्रियों को भौतिक कह रहा है। न्याय और वैशेषिक को एक दूसरे का समान शास्त्र कहा जाता है क्योंकि ये दोनों किसी समान अर्थ का उपपादन करने में एक-दूसरे के सहायक हैं। वैशेषिक दर्शन का प्रथम व द्वितीय सूत्र- **“अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः”। (वैशेषिक-1.1)**

तथा यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक-1.2)

यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ कणाद ऋषि ने तटस्थलक्षण किया है, न कि स्वरूपलक्षण। अर्थात् यहाँ धर्म से धृति-क्षमा आदि मनुस्मृति वाला अर्थ न करके धर्म शब्द का अर्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों के धर्म वा विशेषताएँ बताने से हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान की अनुभूति का विश्लेषण यह न्याय का विषय है, तो उस विश्लेषण से प्राप्त जगत् पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञान वैशेषिक दर्शन का विषय है। न्याय दर्शन प्रमाणों का प्रपञ्च है तो वैशेषिक पदार्थ तथा तद्गुणों वि विशदीकरण है। संक्षेप में कहें तो महर्षि कणाद की प्रतिज्ञा है कि जगत् के पदार्थों के धर्मों का विवेचन कर उनके स्वरूप का निश्चयीकरण करना।

कोई भी दर्शनकार या लेखक अपने विषय के मूल स्वरूप को ग्रन्थ के प्रारम्भ के चार-पाँच सूत्रों में ही अभिव्यक्त कर देता है बाद में तो उस विषय का विस्तार मात्र होता है जैसे-

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (योगदर्शन-1.2)

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। (सांख्यदर्शन-1.1)

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। (न्यायदर्शन-1.1) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। (न्यायदर्शन-1.2) आगे तो पूरे शास्त्र में इन सूत्रों का विस्तार ही है वैसे ही वैशेषिक का द्वितीय सूत्र **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** इस सूत्र का विस्तार ही है सारा वैशेषिक दर्शन। अभ्युदय का तात्पर्य अपने वर्तमान जीवन में विविध भौतिक साधनों के आधार पर अपनी सुख-सुविधाओं की उपलब्धि करना है। वर्तमान जीवन के सुख की उपेक्षा करके जन्म-जन्मान्तरों के स्वर्गादि सुख के लिए अनुष्ठान करना भी ऐहिक साधनों के बिना सम्भव नहीं। पदार्थों की यथार्थता को जानकर उनके अपेक्षित उपयोग के अतिरिक्त अभ्युदय अन्य कुछ नहीं है। आज भौतिकतत्त्वों के यथार्थरूप को जानकर वैज्ञानिक वर्ग ने ऐहिक सुख-सुविधाओं व समृद्धि को बहुत बड़ा विस्तार दे दिया है, यही तो है कणाद के अभ्युदय का वास्तविक अर्थ है।

लेकिन जो द्रव्यादि पदार्थ यथार्थरूप में हमारी विविध सांसारिक सुख-सुविधाओं के जनक होते हैं, वे सब अपने स्वरूप में नश्वर हैं, इन पदार्थों की ऐसी यथार्थता को समझकर विवेकशील आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने की ओर आकृष्ट होता है, वह देखता है ये सब पदार्थ नश्वर व परिणामशील हैं, आत्मतत्त्व इनसे परे है, इन पदार्थों का ऐसा वास्तविक ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस के मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। इन्द्रियग्राम बड़ा बलवान है, विषयों की ओर इसका नैसर्गिक प्रवाह है, किन्तु इनका सदुपयोग करते हुए निःश्रेयस के मार्ग पर आगे बढ़ना, यह महर्षि कणाद का अभीष्ट है।

विशेष (पृथिव्यादि परम सूक्ष्म भूततत्त्वों का नाम विशेष है) नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ छह हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य नौ हैं— पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गुण चौबीस हैं— स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पार्थक्य, परत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, स्नेह, गुरुत्व और द्रवत्व। कर्म पाँच प्रकार के होते हैं— उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन।

पूर्व मीमांसा दर्शन—

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनी हैं। इस ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। सूत्रों की संख्या 2731 है, आकार की दृष्टि से यह दर्शन सबसे बड़ा है, इस दर्शन का जिज्ञास्य विषय धर्म है। **अथातो धर्मजिज्ञासा (मीमांसा-1.1)** आओ अब हम अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रतिपादक धर्म के मर्म को समझते हैं। धर्म का ज्ञान वेदाध्ययन से होता है क्योंकि धर्म के विषय में केवल वेद ही पूर्ण व मूल प्रमाण है। धर्म अथवा वेद विषयक विचार को मीमांसा कहते हैं। इस दर्शन में वेदार्थ का विचार होने से इसे मीमांसा दर्शन कहते हैं। इस दर्शन में यज्ञों की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की गयी है। मीमांसा दर्शन के मुख्य तीन भाग हैं। प्रथम भाग में ज्ञानोपलब्धि के मुख्य साधनों पर विचार है। दूसरे भाग में अध्यात्म-विवेचन है और तीसरे भाग में कर्तव्याकर्तव्य की समीक्षा है।

ज्ञानोपलब्धि के साधन— मीमांसा के अनुसार ज्ञानोपलब्धि के साधन निम्न हैं—

1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. उपमान 4. शब्द 5. अर्थापत्ति 6. अनुपलब्धि। यह दर्शन इस जगत के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को भी स्थिर और नित्य मानता है शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता, अपितु अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता रहता है। आत्मायें ही बन्धन में आती हैं और उन्हीं का मोक्ष होता है। कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय भी हमें इस दर्शन से ज्ञात होता है। हमें कर्तव्य को कर्तव्य की दृष्टि से करना है क्योंकि वेद ने उसकी आज्ञा ही है। हमें फल प्राप्त हो या न हो, वेद प्रतिपादित कर्म से चाहे हमें कष्ट मिले, परन्तु हमें उसे छोड़ना नहीं है। मीमांसा का अन्तिम ध्येय स्वर्ग है, स्वर्ग प्राप्ति के दो साधन हैं— 1. निष्काम कर्म, 2. आत्मज्ञान। इन दोनों साधनों के पूर्ण हो जाने पर सब पूर्वकर्म क्षीण हो जाते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि मीमांसा में यज्ञ के दौरान पशुहिंसा का उल्लेख है। किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। भौतिक यज्ञ के साथ-साथ मनुष्य का जीवन भी एक यज्ञ है, तथा इसमें अज्ञान, अविद्या आदि हमारे दोषों को ही पशुरूप में माना है। इन दोषों का नाश करना ही अर्थात् अपनी पाशिवक वृत्तियों को नष्ट करके उन्हें दिव्य बनाना ही पशु हिंसा है।

वेदान्त दर्शन—

वेदान्त दर्शन के प्रणेता महर्षि व्यास हैं। इस दर्शन में 4 अध्याय हैं। सूत्रों की संख्या 555 है, इस दर्शन का उद्देश्य परमपिता परमात्मा के बारे में बतलाना है क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार से ही स्थिर शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति होती है। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ है— **वेदस्य अन्तः, अन्तिमो भाग इति वेदान्तः।** वेद के अन्तिम भाग (उपनिषदों) का नाम वेदान्त है। उपनिषदें ही वेद के अन्तिम सिद्धान्त को खोलती हैं। इसलिए वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। उपनिषदों के ज्ञान को व्यवस्था में लाने के लिए ही इस दर्शन का निर्माण हुआ है।

वेदान्त दर्शन में मुख्यतया तीन विषयों का वर्णन है—1. ब्रह्म, 2. जीव और 3. प्रकृति। इन तीनों का स्वरूप क्या है, इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इन्हीं विषयों का वर्णन और विवेचन इस ग्रन्थ में है।

ब्रह्म का स्वरूप— ब्रह्म का आभास हमें तीन प्रकार से होता है: (1) ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप 'नेति-नेति' शब्दों से व्यक्त किया जाता है। अर्थात् न वह मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, बिना स्नेह के है, इत्यादि। (2) ब्रह्म का सबल स्वरूप वह है जो तत्त्वों के साथ मिलकर भासता है, जैसे अग्नि का शुद्ध स्वरूप अङ्गारे में है। (**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तै.उ.**) है, यह ब्रह्म का अमूर्तरूप। आइये इस विषय पर मिल-जुलकर विचार करते हैं—

बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में एक वचन उपलब्ध है— '**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामूर्तं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च**' अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं— मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमूर्त, स्थित (परिच्छिन्न) और यत् (चर-व्यापी-अपरिच्छिन्न) तथा सत् (प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर) और त्यत् ('तत्' अर्थात् सर्वदा 'वह' इस रूप में जानने योग्य अर्थात् परात्पर)।

यस्य भूमिः प्रमाञ्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ (अथर्व. 10 .7. 32)

भूमि जिसके यथार्थज्ञान का साधन पादस्थानीय है। (यजु. 31.13) और अन्तरिक्ष उदरस्थानीय है। जिसने द्यूलोक को मूर्धा के रूप में रचा है। उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार हो।

जीव का स्वरूप— वेदान्त में जीव और प्रकृति ये दोनों ब्रह्म के अधीन हैं। जीव नित्य है, न जन्मता है और न मरता है। नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, पूर्ण ज्ञानमय, सुखमय, शान्तिमय है। शरीर, इन्द्रियों व चित्त के साथ संयोग होने से सुख-दुख का अनुभव करता है।

प्रकृति— इसे माया भी कहते हैं। यह प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति मिथ्या नहीं है। अपितु अपनी वास्तविक सत्ता रखती है। यह भगवान् का ऐश्वर्य महिमा या भगवान् के सामर्थ्य का स्थूल या मूर्तरूप है।

वेदान्त पर भाष्य करते हुए भिन्न आचार्यों ने अपने-अभिप्राय को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या तथा जीव व ब्रह्म को एक माना है, जीव जब सब बन्धनों से मुक्त होता है तो वह भी ब्रह्ममय हो जाता है यही जीव ब्रह्म की एकता है। यह जगत् मिथ्या नहीं है और न ही इसका ढांचा स्वप्नवत् है। यह अपनी विशेष सत्ता रखता है। शंकराचार्य जी ने मिथ्या शब्द का अर्थ अनित्य किया है। संसार अनित्य होते हुए भी प्रवाह से तो नित्य बना ही रहता है। जीव में ब्रह्म जैसा सृष्टि आदि में उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं आता क्योंकि जैसी असंख्य सृष्टियाँ ईश्वर ने बनायीं हैं, उस सृष्टि का एक कण भी मनुष्य नहीं बना सकता है। अतः कितना भी शक्ति सम्पन्न योगी हो जाए तो भी वह ईश्वर के सदृश कदापि नहीं हो सकता।

● पुराण—

पुराण संस्कृत-वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण भाग हैं। भारतीय परम्परा में इनका विशेष स्थान है। वैदिक ज्ञान एवं सिद्धान्तों को सरस रूप में दृढ़ता से समझाने के लिए इतिहास को अति उपयोगी माना गया है। जैसा कि महाभारत में कहा है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो माययं प्रहरिष्यति।

अर्थात् इतिहास-पुराण के द्वारा वेदज्ञान को पुष्ट करना चाहिए। अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) व्यक्ति से वेद इसलिए डरता है; क्योंकि वह अल्पज्ञता से वेद को ही विपरीत रूप में प्रस्तुत कर बाधित करता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक सिद्धान्तों को ही सरस रूप में समझाने के लिए पुराणों की रचना की गई थी तथा इनकी प्रामाणिकता वेदों की अनुकूलता में ही निहित है।

पुराणों का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार बताया गया है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सर्ग (सृष्टिरचना), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश, वंशानुचरित एवं मन्वन्तर—इनका वर्णन पुराणों का मुख्य विषय है। इसके साध्य ही पुराणों में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इस पुरुषार्थचतुष्टय के विषय में उत्तम उपदेश रोचक शैली में मिलते हैं। वैदिक, धर्म, दर्शन, एवं अध्यात्म को पुराणों में नाना आख्यानों के विभिन्न उपमाओं के माध्यम से सरल एवं सरस काव्यात्मक शैली में समझाया गया है। सदाचरण एवं परोपकार को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। इसी भाव को सूचित करने वाला यह श्लोक प्रसिद्ध है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात् अट्टारह पुराणों में व्यास जी के दो वचन मुख्य हैं- परोपकार ही पुण्यदायक होने से सद्गतिकारण है तथा परपीडन पापजनक होने से दुर्गति का मूल है।

पुराण संख्या में 18 हैं। इन्हें वेदव्यास जी ने रचा है, ऐसी मान्यता है। विष्णुपुराण के नाम एवं क्रम का विवरण इस प्रकार दिया गया है।

- ब्रह्मपुराण- 10 हजार श्लोक
- पद्मपुराण- 44 हजार श्लोक
- विष्णुपुराण- 23 हजार श्लोक
- शिवपुराण- 24 हजार श्लोक
- भागवतपुराण- 18 हजार श्लोक
- नारदपुराण- 25 हजार श्लोक
- मार्कण्डेयपुराण- 9 हजार श्लोक
- अग्निपुराण- 15 हजार 4 सौ श्लोक
- भविष्य पुराण- 14 हजार 5 सौ श्लोक
- ब्रह्मवैवर्तपुराण- 18 हजार श्लोक
- लिङ्गपुराण- 11 हजार श्लोक
- वराहपुराण- 24 हजार श्लोक
- स्कन्दपुराण- 81 हजार श्लोक
- वामनपुराण- 10 हजार श्लोक
- कूर्मपुराण- 17 हजार श्लोक
- मत्स्यपुराण- 14 हजार श्लोक
- गरुडपुराण- 19 हजार श्लोक
- ब्रह्माण्डपुराण- 12 हजार श्लोक

यही क्रम बहुसम्मत होने से मान्य है। सम्प्रदायवेत्ता विद्वानों के अनुसार उक्त पुराणक्रम साभिप्राय है। पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य है- सर्ग एवं प्रलय है। सृष्टि के लिए ब्रह्म ने ब्रह्मा का रूप धारण किया, अतः वही सृष्टि का मूल है। ब्रह्मपुराण को प्रथम स्थान आदि कर्ता ब्रह्म के ही कारण दिया गया है। ब्रह्म के विषय में जो जिज्ञासा होती है, उसका उत्तर पद्मपुराण में प्राप्त होता है। ब्रह्म के वर्णन के कारण विष्णुपुराण को तृतीय स्थान प्राप्त हुआ। चतुर्थ स्थान वायुपुराण का है, जिसमें शेषशायी भगवान् एवं शेषशय्या का निरूपण है, जिसका रहस्य श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है। नारद जी सदा भगवान् का मधुर स्वर में गुणानुवाद करते हैं, अतः भागवत के बाद नारदपुराण को स्थान दिया गया।

प्रकृतिरूपिणी देवी को ही इस सृष्टि-चक्र का मूल माना गया है, जिनका विवरण मार्कण्डेयपुराण में है, अतः इसे सप्तम स्थान प्राप्त है। शरीर के भीतर प्राण की भाँति ब्रह्माण्ड के भीतर अग्नि क्रियाशील रहती है, इसका प्रतिपादन अग्निपुराण करता है, अतः इसे आठवाँ स्थान प्राप्त हुआ है। अग्नि का तत्त्व सूर्य पर आधृत है और सूर्य का सर्वातिशायी महत्त्व भविष्यपुराण में वर्णित है, अतः इसे नवाँ स्थान दिया गया है। पुराणों के अनुसार जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और संसार को ब्रह्म के विवर्त रूप में माना जाता है। इसका प्रतिपादन करने वाला ब्रह्मवैवर्तपुराण 10वें स्थान पर आता है। आगे वाले पुराण विष्णु, शिव एवं कर्मगति से सम्बद्ध हैं। ब्रह्म की विविध गुण-कर्मों व शक्तियों के अनुसार विष्णु और शिव के रूप में प्रकट होता है। लिङ्गपुराण एवं स्कन्दपुराण का सम्बन्ध शिव के साथ है। वराह, वामन, कूर्म एवं मत्स्य का सम्बन्ध विष्णुपुराण के साथ है। इस प्रकार इनमें एक ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न रूप में विविध गुण, कर्म व प्रभावों का आलंकारिक रूप में चित्रण किया गया है।

गरुडपुराण में मरणोत्तरवर्ती स्थिति का वर्णन है। जिसके अनुसार पुण्य से सद्गति एवं पाप से होने वाली दुर्गति का चित्रण किया गया है। अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण में प्रतिपादित किया गया है कि जीव अपनी कर्मगति के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते हुए सुख-दुःख का अनुभव करता है। इस प्रकार पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय, ऋषियों व राजर्षियों के वंश, वंशानुचरित एवं मन्वन्तर आदि का निरूपण किया है तथा सृष्टिरचयिता एक ब्रह्म को गुण, कर्म एवं भूमिकाभेद से नानास्वरूपों में चित्रित किया है। पुराणों में प्राचीन भौगोलिक व ऐतिहासिक चित्रण भी मिलता है, जो पुरातत्व व इतिहास की दृष्टि से विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार पुराण भारतीय-वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण भाग है।

❖ 1.4-योग की प्रमुख चार पद्धतियाँ-

1. ज्ञान योग, 2. भक्ति योग, 3. कर्म योग, 4. राजयोग।

● 1.4.1- ज्ञान योग- Four Stages of Jnana-

■ **विवेक-** विचित्र पृथक्भावे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर विवेक शब्द की निष्पत्ति होती है। विवेक का अर्थ है- वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अन्य किसी मिश्रण से पृथक् करके देखना। विवेक का मूल है समाधि और सत्पुरुषों का संग। सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय अवश्य करें, पृथक्-पृथक् जानें। जो ज्ञानपूर्वक सत्यासत्य को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक है- जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जानकर उस की आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उस से विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना **विवेक** कहाता है।

■ **वैराग्य-** दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। दृष्ट= वर्तमान जीवन में देखे हुए या अनुभव किये हुए, अनुश्रविक सुने हुए जैसे-स्वर्ग, वैदेह, प्रकृतिलयत्व इत्यादि, इन देखे और सुने हुए समस्त विषयों से वितृष्ण अर्थात् आसक्ति रहित हो जाना वैराग्य है। अर्थात् दिव्यादिव्य विषयों के उपस्थित होने पर भी उनमें दोष दर्शन करना तथा अनासक्त भाव से उनका सदुपयोग करना वैराग्य है।

■ **सत्संग-** संसार में जब दो व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं, या परस्पर मिलते रहते हैं तो स्वाभाविक रूप से उनके गुण-दोषों का शनैः-शनैः एक दूसरे पर प्रभाव पड़ने लगता है। उनकी वाणी, उनका आचरण, उनकी मान्यताएँ, उनका दर्शन, उनका चिन्तन, उनकी अभिरुचियाँ, उनकी विशेषताएँ, उनका व्यवहार, उनका स्वभाव अज्ञातरूप से एक दूसरे को अपने अनुरूप गढ़ने लगता है, प्रभावित करता रहता है।

आचार्य अपने विद्यार्थियों का इसी रूप में निर्माण करते हैं मानों कि पहाड़ के ऊपर से नीचे उतर कर आना और नीचे स्थित जिसासुजनों को हाथ पकड़कर ऊपर ले जाना। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्पर्क में आने पर निम्नलिखित तीन स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं- प्रथम उच्चतम स्थिति यह होती है कि व्यक्ति अपने गुणों को छोड़ता नहीं और दूसरे के गुणों को ग्रहण कर लेता है।

दूसरी स्थिति में व्यक्ति अन्य के गुणों को ग्रहण कर लेता है। किन्तु अपने गुणों को छोड़ देता है। जैसे एक व्यक्ति प्रतिदिन गीता का पाठ करता था। यह एक ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आया जो अंग्रेजी का विद्वान् था। अब इसने गीता पाठ तो छोड़ दिया और अंग्रेजी पढ़ने लगा। तीसरी स्थिति में व्यक्ति के गुणों को तो ग्रहण नहीं करता किन्तु अपने गुणों को भी छोड़ देता है। सज्जनों की संगति ओषधि के समान रोगों-दोषों-दुःखों व तापों को दूर करने वाली होती है।

न राधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त न दक्षिणा॥ (भागवदपुराण-11.2.1)

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।

यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्। (भागवदपुराण-11.2.2)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- प्रिय उद्धव! जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ-व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्ग के समान मुझे वश में करने में समर्थ नहीं है।

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।

व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्यस्तथापरे। (भागवदपुराण-11.2.6)

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।

अव्रतातप्तसः सत्सङ्गान्मामुपागताः। (भागवदपुराण-11.2.7)

सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गजेन्द्र जटायु, तुलाधार वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, ब्रज की गोपियाँ और दूसरे लोग भी सत्सङ्ग के प्रभाव से ही मुझे प्राप्त कर सके हैं। उन लोगों ने न तो वेदों का स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषों की उपासना की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से ही वे मुझे प्राप्त हो गये। ये बातें सत्सङ्ग की महिमा बताने के लिए कही गयी हैं। सत्सङ्ग को यहाँ सर्वोच्च प्राथमिकता देना चाहते हैं। यथार्थ में योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप, त्याग, यम, नियम व वेदादि शास्त्रों की बहुत बड़ी महिमा है। सत्सङ्ग से भी हम वेदानुकूल आचरण ही सीखते हैं तथा हनुमानादि वाल्मीकि रामायण के अनुसार वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। एक सामान्य मनुष्य जो शास्त्रों व तप की गहन प्रक्रिया नहीं जानता वह भी इन शास्त्रों व जानने वाले तपस्वी का सत्सङ्ग करके इनके फल को प्राप्त कर सकता है यही यहाँ अभिप्रेत है।

■ **मुमुक्षुत्व**— योग साधना करने वाले साधकों के लिए मोक्ष प्राप्ति हेतु चार साधन— विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति व मुमुक्षुत्व का वर्णन सत्यार्थ प्रकाश के नवम् समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने वर्णित किया है, मुमुक्षुत्व इनमें चतुर्थ साधन है। इन चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों से युक्त पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी होता है मोक्ष की प्रबल इच्छा, संकल्प व साधना का नाम ही मुमुक्षुत्व है। मोक्ष का अर्थ है त्रिविध दुःख से अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष के विषय में भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या मिलती है। सत्पुरुषों के संग और समाधि से विवेक की प्राप्ति होती है। विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है तथा परवैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है। योग दर्शन के अनुसार **सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।** बुद्धि और पुरुष की भिन्नता जानने वाले योगी को अनेक पदार्थों का स्वामित्व तथा अपने आप से सम्बन्धित अर्थात् आत्म सम्बन्धित सर्वज्ञता प्राप्त होती है। योगी के इस ज्ञान को 'विवेकज ज्ञान' कहते हैं। **क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।** क्षण और उसके क्रम में संयम करने से यह विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है। यह 'विशोका' नाम की सिद्धि है। जिसको प्राप्त करके योगी आत्मज्ञानी, 'क्षीणक्लेशबन्धन' वाला होकर विचरता है। **तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।** उस विशोका नामक सिद्धि से भी वैराग्य होने से अविद्या आदि क्लेश बीजों के नष्ट हो जाने पर कैवल्य अथवा मोक्ष हो जाता है, यही मुमुक्षुत्व की उपरति या लक्ष्य प्राप्ति है।

■ Stages of Jnana Yoga Practice-

श्रवण, मनन, निदिध्यासन— श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्रोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येयमेते दर्शनहेतवः॥ बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं— 'आत्म वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति।' सरलार्थ यह है कि जो आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता चाहते हैं उन्हें धैर्यपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, तप-ब्रह्मचर्य-विद्यापूर्वक श्रवण-मनन व निदिध्यासन (चित्त की अन्तर्मुखीन वृत्ति=ध्यान) का सतत अभ्यास करना चाहिए, सतत अवलम्बन लेना चाहिए।

■ 'श्रवण' जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब प्रशान्त व प्रसन्नमन होकर, ध्यान देकर सुनना, विशेष रूप से ब्रह्म विषय के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये कि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र में ही श्रवण के महत्व को बताते हुए ऋषि कहते हैं— **संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि मय्येवास्तु मयिश्रुतम्।** (अथर्ववेद-1.1)

■ 'मनन' एकान्त देश में बैठ केकर सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शंका हो पुनः पूछना और सुनने समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझे तो पूछना और समाधान करना। जैसे पशु आदि खाये हुए अहार की जुगाली करके उसे अधिक सुपाच्च बना लेते हैं वैसे ही बुद्धिमान को चाहिये कि वह सुने हुए विषय का विशेष मनन करे।

■ 'निदिध्यासन' जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह हो जाय तब समाधिस्थ हो कर उस बात को देखना समझना कि वह जैसा सुना था विचारा था वैसा ही है वा नहीं? ध्यानयोग से देखना निदिध्यासन है।

■ अष्ट चक्र—

Asta Chakras and its Correlation to stages of Consciousness

चक्र षट् हैं या अष्ट, इस शंका का निवारण—

अथर्ववेद में अष्ट चक्रों का ही वर्णन किया है। गोरख बानी में भी अष्ट चक्रों का ही वर्णन किया गया है—
ए अष्ट कमल का जागौ-भेष। आपै करता आपै देख। इति अष्ट कथंत जती गोरखनाथ सम्पूर्ण। षट्चक्र भेदन के बाद मस्तिष्क में स्थित मनश्चक्र (ललना चक्र या बिन्दु चक्र) तथा सहस्रारचक्र, इन दोनों को चेतना प्राकट्य के दो उच्च केन्द्र व शक्ति के ऊर्ध्व आधार केन्द्र के रूप में माना गया है अतः मुख्य चक्र (शक्ति केन्द्र) निश्चित रूप से आठ ही हैं। यह भी निर्विवाद है कि चक्रों को ज्ञान का प्रयोग साधक को साधना से अपनी शक्ति को मूलाधार से जागृत कर सहस्रार तक पहुँचाकर रोग मुक्ति एवं परमानन्द की अनुभूति करना है।

मानव-शरीर में सन्निहित चक्र विविध प्रकार की अद्भुत शक्तियों के केन्द्र हैं। ये समस्त चक्र मेरुदण्ड के मूल से प्रारम्भ होकर उसके ऊपरी भाग तक जुड़े हैं। साधारण अवस्था में ये चक्र बिना खिले कमल के सदृश अधोमुख हुए अविकसित रहते हैं। ब्रह्मचर्य-पालन, प्राणायाम एवं ध्यान आदि यौगिक विधियों द्वारा दिव्य स्फूर्ति पाकर जब ये ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होते हैं, तब उनकी अलौकिक शक्तियों का विकास होता है। इसी प्रकार (Pelvic Plexus) (पेल्विक प्लेक्सस) आदि अँगरेजी नाम भी उनके वास्तविक स्थानों को नहीं बतलाते, अपितु संकेत-मात्र करते हैं।

चक्रों का संक्षिप्त वर्णन— चक्रों के सम्बन्ध में भगवान्, अथर्ववेद में कहते हैं—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ —(अथर्ववेद - 10.2.31)

देवों की नगरी अयोध्या-रूपी इस देह में अष्टचक्र और नौ द्वार (दो आँखें, दो नासापुट, दो कान, मुख, पायु और उपस्थ) हैं। इसी नगरी में एक देदीप्यमान हिरण्यय कोष है, जो अनन्त, अपरिमित, असीम सुख-शान्ति, आनन्द एवं दिव्य ज्योति से परिपूर्ण है। योगाभ्यासी उपासक साधक ही इस दिव्य कोष (खजाने) को प्राप्त कर सकता है। अब हम संक्षेप में चक्रों के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं।

1. **मूलाधार चक्र (Pelvic Plexus i.e. Root Plexus vis-a-vis Reproductive System) :-**

यह चक्र गुदामूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थमूल से दो अंगुल नीचे है। इसके मध्य से सुषुम्णा (सरस्वती) नाड़ी और वाम कोण से इडा (गंगा) नाड़ी निकलती है। इसीलिए इसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति का आधार होने से इसे मूलाधार चक्र कहते हैं। इस चक्र पर ध्यान करने से आरोग्यता, दक्षता एवं कर्म-कौशल आदि गुणों का विकास होता है। इस चक्र के जाग्रत होने से पुरुष ऊर्ध्वरीता, ओजस्वी एवं तेजस्वी बनता है तथा शरीर की समस्त व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

इस प्रथम चक्र मूलाधार को सविता (बुद्धि के तेज) से प्रेरित 'मानस-रश्मियाँ' प्रकाशित कर रही हैं। इस स्थान में फव्वारे या टॉर्च की मन्द ज्योति के समान निकलने वाला प्रकाश उस तन्तु में से निकल रहा है जो स्वाधिष्ठान चक्र के सामने से मूलाधार तक चला जाता है। यहाँ निबिड अन्धकार जड़ जमाये रहता है। प्राण-साधना एवं धारणा-ध्यान द्वारा इस अन्धकार को हटाकर 'मूलाधार' को प्रकाशित किया जाता है। यही प्रकाश मूलाधारगत समग्र स्थूलता तथा सूक्ष्मता का दर्शन करता है। इसी को 'कुण्डलिनी-जागरण' भी कहा जाता है।

2. **स्वाधिष्ठान चक्र (Hypogastric Plexu vis-a-vis Excretory System) :-**

मूलाधार चक्र के दो अंगुल ऊपर पेडू के पास इस चक्र का स्थान है। तन्त्र-ग्रंथों में इस चक्र में ध्यान का फल सृजन, पालन और निधन में समर्थता और जिह्वा पर सरस्वती होना बताया है।

3. **मणिपूर चक्र (Epigastric Plexus or Solar Plexu vis-a-vis Digestive System) :-**

इसका स्थान नाभिमूल है। यकृत तथा आँत इत्यादि सम्पूर्ण पाचन-तन्त्र एवं अग्न्याशय आदि को यही चक्र शक्ति प्रदान करता है। योगदर्शन में 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' —(3.22) सूत्र द्वारा नाभिचक्र में ध्यान करने पर शरीरव्यूहज्ञान, अर्थात् शरीर के अवयवों के सन्निवेश का ज्ञान होना फल बतलाता है। इस चक्र के जागृत होने पर मधुमेह, कब्ज, अपच, गैस आदि सभी पाचन की विकृतियाँ भी दूर हो जाती हैं।

4. **हृदय चक्र या निम्न मनश्चक्र (Lower Mind Plexus vis-a-vis Skeletl System) :-**

दोनों स्तनों के मध्य भाग को हृदय चक्र कहा है। यह भौतिक हृदय (हॉर्ट) नहीं है। यह भावनात्मक हृदय है। इसे ही उपनिषदों में आत्मा का स्थान भी कहा है। तन्त्र-ग्रन्थों में वाक्पतित्व, कवित्व-शक्ति का लाभ, जितेन्द्रियता आदि इस पर ध्यान करने के लाभ बताये गये हैं 'शिवसारतन्त्र' में कहा है कि इसी स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि (अनहद नाद) ही सदाशिव (कल्याण-कारक) उद्गीथ रूप ओंकार है। स्त्रियों एवं श्रद्धाप्रधान चित्तवाले साधकों के लिए यह चक्र धारणा एवं ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान है।

5. **विशुद्धि चक्र (Carotid Plexus vis-a-vis Respiratory System) :-**

इसका स्थान कण्ठ है। इस चक्र पर ध्यान करने एवं इसके जाग्रत् होने पर व्यक्ति कवि, महाज्ञानी, निरोग, शोकहीन और दीर्घजीवी हो जाता है। थायरॉयड ग्रन्थि एवं फेफड़ों के रोग भी इस चक्र के जाग्रत् होने पर नहीं होते।

6. **आज्ञा चक्र (Medullary Plexus vis-a-vis Nervous System) :-**

यह चक्र दोनों भ्रुवों के मध्य भृकुटी के भीतर है। कपालभाति, अनुलोम-विलोम एवं नाडी-शोधन आदि प्राणायामों के द्वारा प्राण तथा मन के शांत एवं स्थिर हो जाने पर ऑटोनोमिक एवं वाल्टरी नर्वस सिस्टम शान्त, स्वस्थ एवं संतुलित हो जाता है। सम्पूर्ण नाडीतंत्र आज्ञा चक्र से ही सम्बद्ध है। आज्ञा चक्र के जाग्रत् होने पर नाडी संस्थान पूर्णरूपेण स्वस्थ एवं सशक्त हो जाता है। मूलाधार चक्र से इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा पृथक्-पृथक् ऊर्ध्व प्रवाहित होकर इस स्थान पर संगम को प्राप्त करती हैं। इसलिए आज्ञाचक्र-स्थान को त्रिवेणी भी कहते हैं।

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।

तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती॥

त्रिवेणी-संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।

तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ —(ज्ञानसंकलिनीतन्त्र)

इडा को गंगा, पिंगला को यमुना तथा दोनों के मध्य जानेवाली नाडी सुषुम्णा को सरस्वती कहते हैं। इस त्रिवेणी का जहाँ संगम है, उसे तीर्थराज कहते हैं। इसमें स्नान (ध्यान) करके साधक समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यह त्रिवेणी-संगम बाहर नहीं, अपितु हमारे भीतर ही है। 'बाहर की त्रिवेणी में स्नान करने से कोई भी व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है' यह भ्रान्ति, मिथ्याज्ञान है। क्योंकि यदि ऐसा होने लगे, तो किसी भी व्यक्ति को, ब्राह्मण, गुरु या भाई आदि की हत्या करके भी त्रिवेणी संगम में स्नान करने से पापमुक्त हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। पाप का अर्थ है 'अपराध', जिससे दूसरों का अहित होता है। अतः पाप का फल तो भोगना ही पड़ेगा। पाप करके भी यदि आप प्रायश्चित्त-रूप पुण्यकर्म करते हैं, तो भी पाप का फल दुःख-रूप तथा पुण्य का फल सुख के रूप में अलग-अलग भोग-रूप में प्राप्त होगा। इसलिए शास्त्रों में कहा है कि—**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।** हाँ, यदि श्रद्धापूर्वक कोई व्यक्ति गंगा या त्रिवेणी में स्नान करे और स्नान करके संकल्प करे कि मुझे जीवन में कभी पाप-कर्म नहीं करना, तो वह अपनी इसी पवित्र प्रतिज्ञा एवं संकल्प से भविष्य में पाप से बच सकता है। परन्तु; जो अबतक किया हुआ पाप है, उससे तो फिर भी नहीं बच सकता। यह तो हुई बाह्य त्रिवेणी का बात; परन्तु यदि कोई प्राणायाम एवं ध्यान द्वारा आज्ञा चक्र में सन्निहित त्रिवेणी-संगम में मन को टिकाकर भगवान् की भक्ति में, ज्ञान की गंगा में नहाता है, वह पाप की बात सोच भी नहीं सकता, फिर पाप करना तो बहुत दूर की बात है। इसलिए यदि वास्तव में हम पापों से मुक्ति चाहते हैं, तो प्रतिदिन आज्ञा चक्र में मन का निग्रह करके ओंकार के नाम का जप करते हुए योगाभ्यास करना चाहिए।

7. **मनश्चक्र - मनश्चक्र (बिन्दु या ललना चक्र)- यह चक्र हाइपोथेलेमस में स्थित है। इसका कार्य हृदय से सम्बन्ध स्थापित करके मन व भावनाओं के अनुरूप विचारों, संस्कारों व मस्तिष्कीय स्त्रावों व लवणों आदि का**

निर्माण करना है, इसे हम मन या भावनाओं का स्थान भी कह सकते हैं।

8. सहस्रार-चक्र (Endocrine System, Crown Plexus) :-

यह चक्र तालु के ऊपर मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर सब दिव्य शक्तियों का केन्द्र है। इस चक्र पर प्राण तथा मन तथा मन के निग्रह से प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति-रूप वृत्तियों का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है। पिच्युटरी (पीयूष ग्रन्थि) एवं पीनियल सहित सम्पूर्ण अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों का सम्बन्ध सहस्रार चक्र से है। सहस्रार चक्र के जाग्रत् होने पर पूरा इन्डोक्राइन सिस्टम संतुलित हो जाता है।

अष्टचक्रों के साथ चेतना का सम्बन्ध- अष्टचक्रों की जागृति के माध्यम से हमारे भीतर जो सुप्त दिव्य शक्ति जागृत होती है उससे हमारी चेतना का दिव्य रूपान्तरण होता है। यह रूपान्तरण हमारे वाणी, व्यवहार व आचरण में तथा स्थूल शरीर के एक-एक कोषाणु में प्रतिबिम्बित होता है। प्राण, मन, बुद्धि व शरीर आदि समस्त अस्तित्व में सात्विकता बढ़ जाती है। चित्त की एकाग्रता भी चक्रों के जाग्रत् होने से इतनी बढ़ जाती है कि हम सहज ही योग की सूक्ष्मताओं में प्रवेश कर जाते हैं।

■ इडा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ी-

The concept of Ida, Pingla and the Sushumna the central channel of energy running along the spine-

शास्त्रों में अलग-अलग चक्रों में जो अलग-अलग पंखुड़ियों की कल्पना की गयी है, वह उस चक्र के चारों ओर विद्यमान सूक्ष्म नाड़ियों का समूह है। ये नाड़ियाँ स्नायु मण्डल (नर्वस सिस्टम) नहीं हैं, किन्तु चेतना के विस्तार की माध्यम हैं। यहाँ नाड़ी का अर्थ 'प्रवाह' है। जिस तरह विद्यु में नेगेटिव व पॉजिटिव प्रवाह साथ-साथ होते हैं, उसी प्रकार शरीर के सभी भागों में प्राण एवं मनः शक्ति का प्रवाह होता रहता है। इस तरह के नाड़ियों (चेतना के सूक्ष्म प्रवाह के स्रोतों) की संख्या उपनिषद् आदि ग्रन्थों में 72 हजार से लेकर 72 करोड़ 72 लाख तक मानी गयी हैं। ये पूरे शरीर में फैली हुई हैं तथा ये अत्यन्त सूक्ष्म तरंगों (ऊर्जा) के रूप में पिंगल, शुक्ल, नील, पीत और लाल वर्ण की हैं। सूर्य की किरणों की तरह इनका रंग व उसकी रश्मियों की अणिका (सूक्ष्मता) की तरह इन नाड़ियों का लय माना गया है। इन नाड़ियों में इडा, पिंगला व सुषुम्ना को मुख्य माना गया है, इडा नाड़ी की शक्ति बायें नासारन्ध्र के प्राणवायु से तथा पिंगला नाड़ी की शक्ति दायें नासारन्ध्र के प्राणवायु से प्रवाहित होती है, इन्हें ही क्रमशः चन्द्र, सूर्य नाड़ी भी कहते हैं। इडा नाड़ी की प्रकृति शीतल व पिंगला नाड़ी की प्रकृति उष्ण होती है। इन नाड़ियों के मूल स्थान को ही मूलाधार कहा जाता है, ये दोनों नाड़ियाँ सुषुम्नानाड़ी से मिलकर एक चक्र (वृत्त) का निर्माण करती हैं, जो रीढ़ के मूल में होता है। इ से ही शक्ति का मूलकेन्द्र कहा है। ये नाड़ियाँ ही प्राण व चेतना के प्रवाह को नियन्त्रित करती हैं। यहाँ से सुषुम्ना तो सीधे ऊपर की ओर से ऊपर बढ़ती है, बीच-बीच में जो शक्ति-केन्द्र (चक्र) हैं, उन चक्रों के स्थान में ये नाड़ियाँ आपस में मिलती हैं, इस तरह से ये सहस्रार तक पहुँचती हैं।

इडा-

इडा वामे स्थिता भागे। (स्व.यो.-38.74)

शरीर में बायीं ओर इडा नाड़ी है।

इडानाम्नी तु या वाममार्गे व्यवस्थिता।

सुषुम्नायां समाश्लिष्य दक्षिणासापुटे गता। (बृ.सो.-5.42.92)

जो नाड़ी सुषुम्ना को स्पर्श करती हुई दाहिनी नासिका के दक्षिण द्वार को गयी है, उसका नाम इडा नाड़ी है।

इडा नाम्नी तु या नाड़ी वाममार्गे व्यवस्थिता।

मध्यनाडी समाश्लिष्य वामानासापुटे गता। (शि.स.-2.25)

शरीर के बाये भाग में स्थित तथा सुषुम्ना नाड़ी से लिपटकर बायें नासापुट तक जाने वाली नाड़ी इडा कहलाती है।

इडा नासापुटे वामे। (शा.प.4.655)

वाम नासापुट में इडा नाड़ी का स्थान होता है।

प्राणं चेदिडया पिबेन्यमितं...शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः। (ह.प्र.-2.1)

इडा को वामस्वर भी कहते हैं।

इडामार्गेण पुष्टयर्थं याति मन्दाकिनी जलम्। पुष्णाति सकलं देहं इडामार्गेण निश्चितम्।

एष पीयूषरश्मिर्हि वामपाश्वे व्यवस्थितः। (शि.स.-2.7,8)

शरीर के पोषण के लिए गङ्गाजलस्वरूप (अमृत) इडामार्ग से प्रवाहित होता रहता है, वाम भाग में स्थित यह सुधारश्मि ही इडामार्ग से निश्चित रूप से समस्त शरीर का पोषण करती रहती है।

सुषुम्पोडा पिङ्गला च गान्धारी हस्तिजिह्विका। कुहूः सरस्वती पूषा शंखनी च पयस्विनी।

वारुण्यलम्बुसा चैव विश्वोदरी यशस्विनी। एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका।

(शि.स.-2,14,15)

शरीर में अवस्थित चौदह नाड़ियों में से एक, जो प्रमुख तीन नाड़ियों (इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना) में भी शामिल है।

आज्ञापंकजदंक्षांसाद्दामनासापुटं गता उदग्बहेति ततेडा वरणा समुदाहता। (शि.स.5.17)

आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से इडानाड़ी बायें नासापुट की ओर उत्तरवाहिनी दिशा में गमन करती है।

इडा गंगा पुरा प्रोक्ता (शि.स.-5.138)

इडा को गङ्गा कहा गया है।

इडा, प्राण मार्ग में अवस्थित है- **पिंगलेडासुषुम्नाच प्राणमार्गे समाश्रितः।** (शि.स्व-415)

देह के मध्य में प्राण का संचार प्रकट रूप से लक्षित होता है, इडा, पिंगला सुषुम्ना नाड़ियों से सुधीजन उसे जानते हैं।

बायीं इडा नाड़ी, चन्द्र स्वर, वाम नाड़ी (द्र.प्र.स्थ.-गो.प.-1.199)।

चन्द्र नाड़ी, बायां स्वर, बायीं नासिका, इडा नाड़ी, भगवती गङ्गा, वाम स्वर (द्र.प्र.स्थ-2.

52,64,3.73,16,4.44,112)। बायां नथुना, चन्द्र स्वर।

(शरीरस्थ दस महत्त्वपूर्ण नाड़ियों में से एक, इडा नाड़ी चन्द्र नाड़ी, वामस्वर, बायां नथुना)

पिङ्गला-

‘पिङ्गला दक्षिणे स्थिता’ (गो.श.-20.10)

पिङ्गला नाड़ी शरीर के दायें भाग में स्थित है।

इडा भागवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नही। इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।

(ह.प्र.-3.106)

इडा भगवती गंगा है, पिङ्गला नदी है; और इडा-पिङ्गला के बीच में स्थित बालरण्डा कुण्डली है।

पिङ्गला (द्र.प्र.स्थ.-ह.प्र.-4.44)

दायाँ नथुना, सूर्या नाड़ी, में से एक, जो शरीर के दायें भाग में स्थित है एवं सूर्य इसके देवता है।

(द्र.प्र.स्थ-गो.श.18,20,23)

शरीरस्थ इस प्रमुख नाड़ियों में से एक, जो शरीर के दायें भाग में स्थित है एवं सूर्य इसके देवता है।

(द्र.प्र.स्थ.-गो.श.-18,20,23)

[शरीर में अवस्थित महत्त्वपूर्ण दस नाड़ियों में से एक]

सुषुम्ना-

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिन्दिवात्मकम्। भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम्।

(ह.प्र.-4.17.133)

जैसे सूर्य और चन्द्रमा दिन और रात के क्रम से काल (समय) को व्यतीत करते हैं, वैसे ही सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी काल (आयु) को बिताती हैं; उसी काल को खाने वाली अर्थात् समय को स्थिर कर देने वाली 'सुषुम्ना' है। ये गुप्त रहस्य कहलाता है।

[समय को जीतने वाली नाड़ी, सर्वप्रमुख नाड़ी]

द्वाप्तिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे। सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।

(ह.प्र. -4.18.134)

मानव शरीर में बहत्तर हजार (72) नाड़ियाँ विद्यमान हैं, उन सभी में परमात्मा की मुख्य शक्ति ही 'सुषुम्ना' कहलाती है, शेष सभी आध्यात्मिक दृष्टि से निरर्थक हैं।

प्रमुख शक्ति, सर्वप्रमुख आधार, सर्वोत्तम, उत्तमोत्तम]

क्षणं वामे क्षणं दक्षे यदा वहति मारुतः। सुषुम्ना सा च विज्ञेया सर्वकार्यहरा स्मृता।

(स्व.यो.-124. 8)

क्षणमात्र में वामस्वर और क्षणमात्र में दक्षिण स्वर की यदि वायु बहती है तो वह सुषुम्ना (नाड़ी) कही जाती है। यह सभी कार्यों को नष्ट करती है अर्थात् सुषुम्ना में किया हुआ कोई कार्य सफल नहीं होता।

सुषुम्ना मध्यदेशे। (स्व.यो.-34.74;गो.श.-2.11)

शरीर के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है।

[मानव शरीरस्थ समस्त प्रकार की नाड़ियों में से सबसे महत्त्व-पूर्ण नाड़ी]

मन्दमध्ये स्थिता नाड़ी सुषुम्णेति प्रकीर्तिता। (व.सं.-2.11)।

कन्द के मध्य में स्थित नाड़ी सुषुम्ना कही जाती है समस्त नाड़ियों इस कन्द चक्र के चारों ओर स्थित है।

इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु। (बृ.सो.-5.44)

जो नाड़ी इडा और पिंगला नाड़ी के बीच में स्तम्भ स्वरूप से रहती है, उसे सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं।

कन्दस्य मध्यमे पुत्र सुषुम्णा सुप्रतिष्ठिता । पृष्ठमध्यस्थितेनास्थना सह मूर्ध्नि स्थिता सदा।

(व.सं.-2.24)

कन्द के बीच में स्थित नाड़ी जो पीठ की अस्थि अर्थात् रीढ़ की हड्डी के साथ मस्तक तक विद्यमान रहती है, सुषुम्णा कहलाती है।

द्वाप्तिसहस्राणि सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः। (ह.प्र.-4.18)

शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें से आध्यात्मिक प्रगति मुख्य भूमिका सुषुम्ना नाड़ी से होती है।

सूर्याचन्द्रमसौ धत्त गुह्यमेतदुदाह्यम्। (ह.प्र.-4.17)

दायीं और बायीं नासिका की क्रिया का स्थगन करने वाली; काल को खाने वाली अर्थात् आयु का क्षय होने से बचाने वाली।

तत्र सुषुम्ना वैष्णवी भवति। (शा.उ.1.5.24)

देहमध्ये ब्रह्मनाड्य सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते।

सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। (अ.ता.उ.-4.3)

मन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता। (द.उ.उ.-4.5.162.)

मूलाधारत्रिकोणास्था सुषुम्ना द्वादशाङ्गुला। (यो.शि.उ.-43)

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः।

प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भन्त्यासु व्यानश्चरित। (प्रश्नोपनिषद्- 3.6)

यह आत्मा हृदय में स्थित है इस हृदयदेश में 101 नाड़ियाँ हैं उनमें से एक-एक की सौ-सौ शाखाएँ हैं और उनमें से प्रत्येक की बहत्तर-बत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं इन सबमें ज्ञान का संचार है। इस प्रकार इन नाड़ियों की कुल संख्या 72 करोड़, 72 लाख, 10 हजार 102 है। इन सब में इड़ा, पिङ्गला व सुषुम्ना सबसे प्रमुख नाड़ियाँ हैं जो मूलाधार चक्र से लेकर मेरुदण्ड के साथ-साथ सहस्रार चक्र तक पहुँचती हैं। ये तीनों एनर्जी की सेन्ट्रल चैनल मानी जाती हैं। इन तीनों में भी सुषुम्ना सर्वप्रमुख है।

● 1.4.2. भक्ति योग-

■ नवधा भक्ति-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। (श्रीमद्भागवत् पुराण, 7.5.23)

श्रवण (परीक्षित), कीर्तन (शुकदेव), स्मरण (प्रह्लाद), पादसेवन (लक्ष्मी), अर्चन (पृथुराजा), वंदन (अक्रूर), दास्य (हनुमान), सख्य (अर्जुन) और आत्मनिवेदन (बलि राजा)- इन्हें नवधा भक्ति कहते हैं।

श्रवण- ईश्वर की महिमा, स्तुति, गुणगान, शक्ति, स्तोत्र इत्यादि को परम श्रद्धा सहित अतृप्त मन से निरन्तर सुनना।

कीर्तन- ईश्वर के गुण, चरित्र, नाम, पराक्रम, शक्ति, महिमा आदि को आनन्द एवं उत्साह के साथ गान करना कीर्तन कहलाता है।

स्मरण- निरन्तर अनन्य भाव से ईश्वर के महात्म और उसकी शक्तियों को मन में धारण करते हुए हर्षित होना स्मरण है।

पादसेवनम्- बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में एक वचन उपलब्ध है- 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामूर्तं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च' अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं- मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित (परिच्छिन्न) और यत् (चर-व्यापी-अपरिच्छिन्न) तथा सत् (प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर) और त्यत् ('तत्' अर्थात् सर्वदा 'वह' इस रूप में जानने योग्य अर्थात् परात्पर)। यह सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर के एक पाद के बराबर है। इसके तीन पाद तो अमृतमय द्युलोक में अदृश्य हैं।

ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों का वर्णन करने वाले कुछ अन्य वैदिक प्रमाण भी देखे जा सकते हैं-

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ (यजु.-31.3)

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः' (यजु.-31.4)

इत्यादि मन्त्रों में जो 'एक पाद' व 'त्रिपाद' की चर्चा है वह शब्दान्तर से सगुण व निर्गुण का ही व्याख्यान है।

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ (अथर्व. 10 .7. 32)

भूमि जिसके यथार्थज्ञान का साधन पादस्थानीय है। (यजु. 31.13) और अन्तरिक्ष उदरस्थानीय है। जिसने द्युलोक को मूर्धा के रूप में रचा है। उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार हो।

अर्चन- मन, वचन और कर्म की पवित्र सामग्री के द्वारा ईश्वर की पूजा करना ही अर्चन है।

वन्दन- माता-पिता, गुरु-आचार्य, विद्वज्जन, योगी व संतजनों को ईश्वर का मूर्त साक्षात् रूप मानकर पवित्र हृदय से उनको प्रणाम करना, उनकी सेवा करना तथा उनका प्रियाचरण करना ही ईश्वर का वन्दन है।

दास्य- संसार में जितनी भी वस्तु, व्यक्ति आदि ऐश्वर्य है, उन सबका स्वामी ईश्वर को मानकर परमश्रद्धा के साथ अपने आप को ईश्वर का सेवक मानकर त्याग भाव से सेवा करना दास्य भाव है।

सख्यभाव— ईश्वर को अपना परम मित्र समझकर अपना सर्वस्व उसे समर्पण कर देना तथा सच्चे भाव से अपने समस्त कर्मों का निवेदन कर देना ही सख्य भाव है।

आत्म निवेदन— ईश्वर की भक्तिविशेष से युक्त होकर अपने आप को सदा के लिए उसके चरणों में समर्पित कर देना तथा अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना ही आत्म निवेदन है।

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

प्रथम भगति संतन्ह कर संगी। दूसरि रति मम कथा प्रसंगी॥

मैं तुझसे अब अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ। तू सावधान होकर सुन और मन में धारण कर। पहली भक्ति है संतों का सत्संग। दूसरी भक्ति है मेरे कथा-प्रसंग में प्रेम।

गुर पद पंकज सेवा भगति अमान।

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।

तीसरी भक्ति है अभिमानरहित होकर गुरु के चरण कमलों की सेवा और चौथी भक्ति यह है कि कपट छोड़कर मेरे गुण समूहों का गान करे।

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।

मेरे मन्त्रका जाप और मुझमें दृढ़ विश्वास— यह पाँचवीं भक्ति है, जो वेदों में प्रसिद्ध है छठी भक्ति है इन्द्रियों का निग्रह, शील (अच्छा स्वभाव या चरित्र), बहु अर्थात् नानात्व की ओर न जाकर प्रभु के एकत्व में स्थित होकर वैराग्य और निरंतर संत पुरुषों के धर्म (आचरण) में लगे रहना।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥

सातवीं भक्ति है जगत्भर को समभाव से मुझमें ओतप्रोत (प्रभुमय) देखना और संतों को मुझसे भी अधिक करके मानना। आठवीं भक्ति है जो कुछ मिल जाय उसी में संतोष करना और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना।

■ भक्त के गुण—

चार प्रकार के भक्तों का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में किया है— 1. आर्त (दुःखी) 2. जिज्ञासु 3. अर्थार्थी (अर्थ को चाहने वाले) 4. ज्ञानी।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। ((श्रीमद्भगवद्गीता-7.16)

जिनमें से जो भक्त भगवान् को सबसे अधिक प्रिय लगता है उसका कुछ दिग्दर्शन इस प्रकार है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-12.14)

जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है— वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-12.16)

जो पुरुष आकाङ्क्षा से रहित, बाहर भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है—वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-12.17)

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है- वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-12.18)

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सदी, गर्मी और आसक्ति से रहित है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-12.19)

जो निन्दा-स्तुति को समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है- वह स्थिर बुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

इस प्रकार गीता के 12वें अध्याय के अन्त तक अनेक श्लोकों के माध्यम से भक्त के गुणों का वर्णन किया गया है। स्थानाभाव के कारण संक्षेप में भक्त के गुणों का दिग्दर्शन करवाने का हमने यहाँ प्रयास किया है।

■ ईश्वर प्रणिधान-

क्रियायोग का तीसरा भाग ईश्वरप्रणिधान है। ईश्वर की अनन्य भक्ति=मन, वाणी और शरीर से की जाने वाली समस्त क्रियाओं को उसके समर्पित कर देना, उनका कोई लौकिक फल न चाहना। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, धन-सम्पत्ति आदि समस्त पदार्थों को उसका मानकर, उसको समर्पण कर देना, उसी की आज्ञानुसार उन सभी पदार्थों का प्रयोग करना, उसको समस्त पदार्थों से प्रिय समझना, अपना पिता, माता, आचार्य, उपास्य, राजा समझना। शब्द प्रमाण से उसके स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर उसके मुख्य नाम ओम् का अर्थ सहित जप करना ईश्वरप्रणिधान है। ऐसा करने से ईश्वर की ओर से विशेष सहायता मिलती है, जिससे बिना कठिनाई के समाधि की सिद्धि होती है।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेदावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।

तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति। (योगदर्शन-1.23)

प्रणिधान अर्थात् भक्ति विशेष से प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करता है। उसके संकल्पमात्र से योगी को समाधिलाभ और समाधिफल शीघ्रतम प्राप्त हो जाते हैं। ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। इस परिवर्तनशील संसार में जो कुछ भी हमें दिखाई देता है वह सब ईश्वर के द्वारा बनाया हुआ है। सियाराम मय सब जग जानी।

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन’ सबके मूल में ईश्वर को देखना क्योंकि जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब ब्रह्ममय है, ब्रह्म से भिन्न यहाँ दूसरा कुछ भी नहीं है। छान्दोग्य का ‘तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ - ‘योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि’। इस सूर्य में जो प्रकाश पुरुष दिखाई देता है वही तेजोमय स्वरूप वाला आत्मा मैं हूँ।

उपनिषद् दर्शन, तर्क के ग्रन्थ नहीं, अनुभूति के, साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। ‘नैषा मतिस्तर्केणापनेया’- यह उपनिषदों का दृष्टिकोण है। अर्थात् यह ब्रह्मविद्या बुद्धि या तर्क से प्राप्त नहीं की जा सकती।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्। (श्रीमद्भगवद्गीता-18.54)

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिये शोक करता है और न किसी की आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-18.55)

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्व से जान लेता है; तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। योग दर्शन में चार बार महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर प्राणिधान शब्द का प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि समाधि लाभ प्राप्त करने में ईश्वर प्राणिधान का अत्यन्त महत्व है।

■ मंत्र जप—

जप करने के लिए गायत्री आदि किसी भी पवित्र मन्त्र का आश्रय लिया जा सकता है अथवा ओङ्कार (प्रणव) जो ईश्वर का निज नाम है, उसका भी जप कर सकते हैं।

तस्य वाचकः प्रणवः (योगदर्शन-1.27)

उस ईश्वर का जीव के साथ पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध है। प्रणव या ओङ्कार ईश्वर का वाच्य या अभिधेय अर्थ है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगदर्शन-1.28)

उस ओम् का जप और उसके अर्थ (ईश्वर) की भावना करनी चाहिए अर्थात् ओङ्कार का जप और ओङ्कार के वाच्यार्थ 'ईश्वर' की भावना करनी चाहिये इस प्रकार ओङ्कार को जपते हुए तथा ओङ्कार के अर्थ 'ईश्वर' की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है ऐसा विष्णु पुराण में भी कहा गया है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत्।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥ (योगदर्शन व्यास भाष्य)

जिसका ध्येय केवल परमात्मा या मोक्ष को प्राप्त करना है वह स्वाध्याय पूर्वक योग अर्थात् समाधि का अभ्यास करें, समाधि पूर्वक तब स्वाध्याय करे इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूपी सम्पत्ति से परमात्मा उसके समक्ष प्रकाशित हो जाता है। यहाँ योग का अर्थ योगः समाधिः है तथा स्वाध्याय का अर्थ भगवान की महिमा का चिन्तन करते भगवान के ऐश्वर्य में भी भगवान् को ही मूर्त रूप में अनुभव करना है, स्वाध्याय एक सगुण साकार उपासना है तथा योग निर्गुण निराकारोपासना है।

मन्त्र जप करने से हम भगवान् व भगवान् की दिव्यता के साथ एक रूप हो जाते हैं इससे दिव्यता से जप करने वाला साधक ईश्वरीय शक्ति से ओतप्रोत हो जाता है।

● 1.4.3-कर्मयोग—

■ **कर्म सिद्धान्त—** व्यक्ति अच्छे या बुरे कर्मों को संस्कारों से प्रेरित होकर करता है, फिर वे अपने ही किये हुए कर्म अनेक रूपों में हमें फल प्रदान करते हैं, जैसे-जैसे फल भोगने से फिर जैसे ही संस्कार बन जाते हैं, उन संस्कारों से प्रेरित होकर व्यक्ति पुनः जैसे ही कर्म करने को बाध्य हो जाता है। योगदर्शन के अनुसार कर्म का सिद्धान्त है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (योगदर्शन-2.13)

अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर उस कर्मसमुदाय का फल जाति, आयु और भोग होते हैं। कर्माशय क्लेशों के रहने पर ही फल को देने वाला होता है। नष्ट क्लेश रूपी मूल वाला (कर्माशय) (फल का) आरम्भक नहीं होता। जिस प्रकार भूसे से सम्बद्ध एवं जो जले नहीं वे चावल उगने में समर्थ होते हैं तुष से हीन वा जले हुए नहीं, उसी प्रकार क्लेश से आबद्ध कर्माशय फल को देने वाला होता है, क्लेश से हीन वा प्रसङ्ख्यान के द्वारा जलाये गये दग्धक्लेशबीज भाव वाला नहीं। और वह फल जाति, आयु और भोग (नाम से) तीन प्रकार का होता है। (कर्म के विषय में) यह विचार किया जाता है कि क्या एक कर्म एक जन्म उत्पन्न करने का कारण बनता है? वा एक कर्म अनेक जन्मों को देता है? दूसरा विचार यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को निष्पन्न करते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म को निष्पन्न करते हैं?

एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता। क्यों? अनादि काल से संचित असंख्य अवशिष्ट कर्मों का और वर्तमान काल में कृत कर्मों का फल के क्रम का नियमन होने से मनुष्यों में कर्मफल के विषय में अविश्वास प्राप्त होता है और वह अभीष्ट नहीं। और न ही एक कर्म अनेक जन्मों का कारण (होता है), क्यों? अनेक कर्मों में से एक कर्म ही अनेक जन्मों का कारण होता है, इस रूप में अवशिष्ट (कर्म समुदाय) के विपाककाल (फलों को भोगने के लिये अवसर) का अभाव प्राप्त होता है और वह भी अभीष्ट नहीं है। और अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण नहीं (होता) क्यों? वे अनेक जन्म एक साथ सम्भव नहीं। इसलिये (जन्मों को) क्रम से ही कहना चाहिये। और उस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा।

इसलिये (सत्य पक्ष यही है कि) जन्म-मरण के मध्य में किये गये विचित्र प्रधानाप्रधान भाव से स्थित पुण्यपापकर्माशय (कर्म समुदाय) मरण के द्वारा अभिव्यक्त एक समुदाय के रूप में मिलकर मृत्यु को सम्पन्न करके, एक समुदाय बनकर एक ही जन्म को सम्पन्न (प्रदान) करता है। और वह जन्म उसी कर्म के द्वारा प्राप्त आयु वाला होता है। उस आयु में उसी कर्म के द्वारा भोग प्रदान होता है। वह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का कारण होने से तीन विपाक (फल) वाला कहा जाता है। इसलिये कर्माशय 'एक जन्म को देने वाला' कहा गया है। अविद्या आदि क्लेशों के होने पर उस कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग के रूप में मिलता है। इस प्रसंग में कर्म के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

कर्म-जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है, सो कर्म कहाता है। वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है ॥ अर्योद्देश्यरत्नमाला। -48

अविद्या आदि के होने पर ही कर्माशय फल देता है। उसके न होने पर नहीं। जैसे एक धान का बीज तुष के रहने पर ही अंकुरित होता है उसके न रहने और जल जाने पर नहीं अर्थात् उसका छिलका हो और वह जला न हो तब ही वह बीज उग सकता है, अन्यथा नहीं। वैसे ही जब योगी निर्बीज समाधि तक पहुँच जाता है और उसके क्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब कर्माशय फल नहीं देता। परन्तु मुक्ति से पुनरावृत्ति होने पर कर्माशय फल देता है। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि योगी के क्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त होने पर कर्म फल नहीं देते।

जाति = मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकौड़े आदि का शरीर। **आयु** = जन्म से लेकर मरणपर्यन्त काल आयु है। यह आयु मनुष्य, पशु, मक्खी आदि प्रत्येक प्राणी का भिन्न-भिन्न है। यह उनके शरीर के आधार पर है। अर्थात् मक्खी-शरीर की अपेक्षा से मनुष्य-शरीर में अधिक समय तक जीवित रहने का सामर्थ्य है। मनुष्य जन्म देने वाले कर्मों से मनुष्य की आयु वाला शरीर मिलेगा और मक्खी के जन्म देने वाले कर्मों से मक्खी की आयु वाला शरीर मिलेगा। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। आयु शब्द का प्रयोग सूत्र में किया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर प्राणियों की आयु क्षणों में निश्चित करता है। उस समय से पूर्व न वे मर सकते हैं और न उससे आगे जीवित रह सकते हैं।

आयु - उपर्युक्त शरीर के अनुसार आयु प्राप्त होती है - जैसे मनुष्य की आयु लगभग 100 वर्ष, गौ की 20-25 वर्ष, घोड़े की 30-35 वर्ष, कुत्ते की 12-14 वर्ष, कबूतर की 6-8 वर्ष, विभिन्न वृक्षों की विभिन्न आयु इत्यादि।

भोग - शरीर के अनुसार ही ईश्वर ने भोग की व्यवस्था कर रखी है। जैसे मनुष्य खीर, पूरी, मेवा, मिष्ठानादि खा सकता है, इसके अनुकूल ही पाचन संस्थान तथा दन्त आदि भी मिलते हैं। इसी प्रकार से वह विविध प्रकार के वस्त्र, आभूषण, यान, भवन आदि का उपयोग भी कर सकता है।

अन्य योनियों (पशु, पक्षियों के शरीरों) में इस प्रकार की बुद्धि वा शारीरिक संरचना न होने से मनुष्य के समान भोग उपलब्ध नहीं होते। इससे पशु पक्षियों में कुछ तो मांसादि का तथा कुछ फल, घास आदि का भक्षण करते हैं। कुछ ग्राम्य पशु (गौ, घोड़ा, बकरी, भेड़ आदि) मनुष्य के यहाँ पालतू बन कर रहते हैं व कुछ जंगली पशु (शेर, भेड़िया आदि) जंगलों में ही रह सकते हैं। पक्षियों में कुछ घोंसले बनाकर, कुछ यों ही शाखाओं पर रहकर ही आँधी वर्षादि में पूरा जीवन बिताने को विवश होते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (योगदर्शन-4.7)

योगी के कर्म अशुक्ल = लौकिक पुण्य फल की कामना से रहित और अकृष्ण=पाप रहित होते हैं अर्थात् ईश्वरप्राप्तिमात्र के लिये किये गये 'निष्काम कर्म', दिव्य कर्म होते हैं। योगी, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम व अकाम होकर संसार के सुखार्थ केवल मात्र दिव्य कर्मों का ही अनुष्ठान करता है। योगी कभी भी अकर्मण्य या आलसी नहीं होता है, चूँकि वह उस शाश्वत का प्रतिनिधि बनकर इस धरती पर जीता है। अतः जब ईश्वर निष्काम भाव से संसार के समस्त कर्मों को करता है, तो योगी को भी ईश्वर के समान निष्काम भाव से दिव्यकर्म अवश्य करने चाहिये। योगी से भिन्न सांसारिक व्यक्तियों के शुभ, अशुभ और पापपुण्य (= मिश्रित) तीन प्रकार के कर्म होते हैं।

'कर्मजाति' (कर्म समूह) चार प्रकार की होती है। और वे हैं— कृष्ण (पाप), शुक्लकृष्ण (पापपुण्य) मिश्रित, शुक्ल (पुण्य) अशुक्लाकृष्ण (न पुण्य न पाप) दिव्य कर्म या निष्काम कर्म। उनमें से पापात्मक (कर्मजाति) दुरात्माओं

की होती है। पाप-पुण्य (कर्मजाति) से सम्पादित होती है। उसमें दूसरों को दुःख देकर, दूसरों पर दया करने के द्वारा ही कर्माशयों का संग्रह किया जाता है। पुण्य (कर्मजाति) तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की होती है। वह (कर्मजाति) केवल मन के आश्रित होने से, बाह्य साधनों के आधीन न होने से, दूसरों को दुःख देने से नहीं होती है। पापपुण्य रहित (कर्मजाति) संन्यासियों, क्षीणक्लेश वालों एवं चरम (अन्तिम) देह वालों की होती है। उनमें फलसंन्यास करने से पुण्यरहित तथा पाप कर्मों को न अपनाने से पापरहित (कर्मजाति) योगियों की ही होती है योगी कर्म तो करता है, सामान्य व्यक्ति से हजारों गुणा ज्यादा कर्म करता है पर चूँकि उसे कुछ फल पाने की चाहत न होने के कारण उसके कर्म दिव्य कर्म या निष्काम कर्म ही होते हैं। अन्य समस्त प्राणियों की पूर्वोक्त तीन प्रकार की (कर्मजाति) होती है। कुछ पुण्य होते हैं, कुछ पाप होते हैं और कुछ मिश्रित कर्म होते हैं।

ऋषियों ने कर्म के तीन साधन माने हैं। मन, इन्द्रियाँ और शरीर। यहाँ पर योगदर्शनकार ने कर्मों के चार प्रकार के विभाग किए हैं। शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण (मिश्रित) और अशुक्ल अकृष्ण। पुण्य कर्म को 'शुक्ल' कहते हैं। अपुण्य कर्म को 'कृष्ण' कहते हैं। पाप-पुण्य मिश्रित कर्म को 'शुक्लकृष्ण' कहते हैं। ये तीनों ही सकाम कर्म हैं। निष्काम कर्म को 'अशुक्ल-अकृष्ण' कहते हैं। जो कर्म अपने और अन्यो के लिये लौकिक सुख को देते हैं, वे 'शुक्ल कर्म' हैं, जैसे उत्तम कार्यों के लिये दान देना, निर्बलों की रक्षा करना आदि। जो दुःखप्रद कर्म होते हैं- कृष्ण या पाप कर्म कहलाते हैं जैसे- चोरी, हिंसा आदि कर्म। तथा जो कर्म कुछ सुख देते हैं और कुछ दुःख देते हैं वे 'शुक्लकृष्ण कर्म' कहाते हैं। जैसे खेती करना, विविध बांधों का निर्माण करना आदि। क्योंकि इन कार्यों में अनेक प्राणियों को सुखदुःख दोनों की प्राप्त होती है।

■ **स्थितप्रज्ञ लक्षण**— समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिर बुद्धि योगी पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिर बुद्धि कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-2.54)

इस श्लोक का उत्तर देते हुए गीता के अगले श्लोक में कहा है-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थं मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 2/55॥

श्री भगवान् ने कहा : हे पार्थ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है, और जब वह अपने आप से अपने में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, (अपने सन्तोष के लिये बाहर के विषयों पर आश्रित नहीं रहता), तब वह 'स्थित-प्रज्ञ' (स्थिर-बुद्धिवाला) कहलाता है ॥2/55॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मतिरुच्यते॥ 2/56॥

जिसका मन दुखों से उद्विग्न, बेचैन नहीं हो जाता, सुखों में जिसकी लालसा मिट जाती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह स्थिर-बुद्धिवाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है। ॥2/56॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2/58॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से सिकोड़ कर अपने खोल के अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों में से अपनी इन्द्रियोंको खींच लेता है तब समझो कि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर हुई ॥2/58॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति। (श्रीमद्भगवद्गीता-2.71)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकार रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है।

■ कर्म का सिद्धान्त—

प्रत्येक मनुष्य हर पल हर क्षण कोई न कोई कर्म करता ही है, या तो शरीर से, या वाणी से या फिर मन से।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। (श्रीमद्भगवद्गीता-3.5)

काई मनुष्य क्षण भर भी कुछ-न कुछ कर्म किये बिना नहीं रह सकता। मनुष्य अपनी प्रकृति से, स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों द्वारा विवश बना दिया जाता है और वे उससे कर्म कराया ही करते हैं।

तब इस कर्म और कर्मफल के चक्रव्यूह से कैसे बाहर निकलें? क्या कर्म करना ही छोड़ दें, यह तो सम्भव ही नहीं है, तो कर्म करते हुए ही कैसे उनसे ऊपर उठकर ईश के आनन्द में आनन्दित रहें?

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद-40.2, ईशोप.-2)

सब कुछ उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही का समझकर उसी की पूजा के लिए शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए सौ वर्ष जीवन जीने की इच्छा करे, कर्मों का सुखरूप फल भोगने की इच्छा से नहीं। इस प्रकार आचरण करने वाला कर्मफल से अलिप्त रहता है। अन्य कोई मार्ग कर्मबन्धन से मुक्ति का नहीं है। कर्म के बारे में गीता का उपदेश है कर्तव्य भाव से कर्म करते हुए, जो भी फल मिले उसमें सन्तुष्ट रहना।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-2.47)

कर्म करने अर्थात् कर्तव्य करने में ही तेरा अधिकार होवे, कर्मों के फलों की प्राप्ति में कभी नहीं। कर्मफल को अपना ध्येय (हेतु) बनाकर तू कर्म करने वाला मत बन, और कर्मत्याग (अकर्म) में भी तेरी आसक्ति न हो अर्थात् तू निष्क्रिय भी मत रह। अपितु अपने भगवान् के हाथों का अन्न बनकर, निमित्त बनकर उसकी शक्ति से खूब सेवा कर।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-2.48)

आसक्ति छोड़कर योग में स्थित होकर अर्थात् स्थिरचित्त होकर, कर्म की सिद्धि या असिद्धि को समान मानकर अपना कर्म कर। कर्म के सिद्ध होने या असफल होने, दोनों ही अवस्थाओं में एक समान रहने वाली समत्वबुद्धि का नाम ही योग है। योगी व्यक्ति किसी सिद्धि या उपलब्धि को पाकर इतराता नहीं है और किसी असिद्धि से घबराता भी नहीं। धैर्य से युक्त होकर बिना कोई गिला-शिकवा किये अपनी सेवाएँ प्रभु के चरणों में समर्पित किये चला जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-18.56)

मेरा ही आश्रय लिया हुआ सब प्रकार के कर्म करता हुआ मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय पद को प्राप्त करता है। अर्थात् जो भगवान् का यन्न बनकर अकाम निष्काम व आप्तकाम भाव से सब कर्म भगवद् सेवाभाव से भगवान् को अर्पण करता है वह इस शरीर में रहते हुए भी तथा यह शरीर छुटने के पश्चात् भी सदा ही ब्रह्म से मुक्त रहता है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।

सिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते। (श्रीमद्भगवद्गीता-18.26)

जो कर्ता सङ्गरहित, अहङ्कार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है— वह सात्त्विक कहा जाता है।

स्वाभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-18.60)

हे कौन्तेय! अपने स्वभावजन्य कर्म के द्वारा बद्ध होने पर भी मोह के कारण जिसे तू करने की इच्छा नहीं करता, अपनी प्रकृति के अधीन होकर तुझे वही विवश होकर करना पड़ेगा। अर्थात् शुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप ही तो यह तन मिला था और इसे मिलने के बाद स्वभाव और संस्कार के अनुरूप प्रकृति कर्म तो जरूर करवायेगी— न करना चाहो तो भी

विवश होकर करना ही पड़ेगा, इसलिए हो सके तो निष्काम कर्म करो वरना पुण्य कर्म कर किन्तु पाप कर्म तो कभी मत कर।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाभ्रसा। (श्रीमद्भगवद्गीता-5.10)

जो व्यक्ति आसक्ति को त्याग कर ब्रह्म में अर्पण करके गर्म करता है वह पाप से लिप्त नहीं होता, ठीक ऐसे जैसे कमल का पत्ता (पानी में रहता हुआ भी) पानी से अलिप्त रहता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (श्रीमद्भगवद्गीता-5.11)

कर्मयोगी लोग आसक्ति को त्याग कर, आत्मशुद्धि के लिये केवल शरीर, केवल मन, केवल बुद्धि तथा केवल इन्द्रियों से काम करते हैं।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः। (श्रीमद्भगवद्गीता-6.1)

जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं।

योग दर्शन के अनुसार कर्मों के फल वर्तमान जीवन और भविष्यज्जीवनों में भोग जाने योग्य हैं।¹ इन कर्मों के फलों का मिलना जीवों में क्लेश की सत्ता रहने पर ही आरम्भ हो सकता है।² क्लेशों के दग्धबीज होने पर फल मिलना आरम्भ नहीं हो सकता। हाँ, यदि फल मिलना प्रारम्भ हो चुका हो और बीच में विवेकख्याति हो जाने के कारण क्लेश दग्धबीज हो जायें, तो उनका फलभोग पूरा हो करके ही रहेगा। ऐसे कर्मसंस्कार, जिनका फल मिलना फलभोग पूरा हो करके ही रहेगा। ऐसे कर्मसंस्कार, जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो चुका होता है-

‘प्रारब्धकर्माशय’ कहे जाते हैं उनकी फलप्रदता को विवेकख्याति भी नहीं रोक पाती, इसीलिये प्रारब्धकर्माशय बड़े बलवान कहे जाते हैं। जिन संचित और क्रियमाण कर्मसंस्कारों का फल मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ रहता, विवेकख्याति के उदय से उनका दग्धबीज हो जाना निश्चित है। ज्ञानाग्नि के द्वारा इन्हीं अनारब्धफलक कर्मसंस्कारों की दग्धबीजता होती है।

1. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। - योग. सू.-1.12

2. ‘सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। - यो.सू. 2.13

एक जन्म और उसके बाद वाली एक मृत्यु के बीच किये गये कर्मों से बने हुये शुभाशुभ संस्कारों का एक ऐसा गट्ठर-सा बना रहता है, जिसके शुभाशुभत्व का प्रकाशन उस मृत्यु से होता है। वह पुञ्जीभूत कर्मसंस्कारसमूह की अपने फलों के अनुकूल अगला जन्म देता है। उस अलगे जीवन की आयु निर्धारित करता है। और इसी कर्माशय-प्रचय (समूह) से उस जीवन का फल भोग सम्पन्न होता है। जन्म, आयु और भोग-यही तीन मुख्य फल या विपाक हैं, जो कर्मसंस्कारों से प्राप्त होते हैं। ऐसे कर्मसंस्कार, जो तीनों फल देते हैं- ‘त्रिविपाककर्माशय’ कहलाते हैं। वे अदृष्टजन्मवेदनीय भी होते हैं, क्योंकि वे वर्तमान जीवन में ही फल देने के कारण ‘जन्म’ नामक फल नहीं देते। वे केवल भोग या आयु देने के कारण ‘एकविपाक’ और दोनों देने पर ‘द्विविपाक’ कहे जाते हैं। इस प्रकार त्रिविपाक-अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय नियत समय में फल देने के कारण ‘एकभाविक’ भी कहे जाते हैं। इन अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों में से कुछ एक विपाक या द्विविपाक भी होते हैं। वे ‘जन्म’ नामक फल नहीं देते। वे अनियतविपाक’ अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय कहे जाते हैं। उनकी गति बड़ी विचित्र होती है। इनकी स्थितियाँ हो सकती हैं।

1. बिना फल दिये ही प्रबल प्रायश्चित्तादि के फलस्वरूप अत्यन्त कमजोर हो जाना या नष्ट हो जाना।

2. प्रबल कर्मसंस्कारों में अन्तर्भावित हो जाना।

3. नियतविपाक प्रधानकर्म के द्वारा अभिभूत होकर बहुत जन्मों तक पड़े रहना अपने अनुकूल परिस्थिति के आने पर फल देना।

इस तीसरे प्रकार की गति वाले अनियतविपाक-कर्माशय के फलोन्मुख होने की परिस्थिति किस समय, किस

स्थान पर, कैसे आयेगी? यह निश्चित नहीं रहता। इसलिये कब इस प्रकार के कर्मसंस्कार फल दे देंगे? इसकी जानकारी असम्भव होने के कारण कर्मगति दुर्विज्ञान और विचित्र कही जाती है। ये सभी प्रकार के कर्मसंस्कार शुभ होने पर आनन्दायक फल और अशुभ होने पर दुःखमय फल देते हैं।

● 1.4.4-राजयोग-

समाधियोग, क्रियायोग, अष्टांग योग व प्रतिप्रसव या कैवल्य योग-

■ **समाधि योग-** योग दर्शन में चार पाद हैं, इन चारों में, चार प्रकार के साधकों का वर्णन है। चारों का ही लक्ष्य समाधि को प्राप्त करना है। प्रथम पाद में जो उच्च कोटि के साधक हैं उनके लिए समाधि के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में जन सामान्य अर्थात् सांसारिक कर्तव्यों का योग में स्थित होकर निर्वहन करते हुए समाधि को प्राप्त करने का, क्रियायोग एवं अष्टाङ्गयोग के माध्यम से विधान किया है। तृतीय पाद जिसे विभूति पाद भी कहा जाता है। अनेक उच्चकोटि की विभूतियों को प्राप्त करने के उपरान्त योगी को मोक्ष में व योग की शक्तियों में विश्वास हो जाता है, तब ये विभूतियाँ योगी को समाधि तक ले जाने में साधक बनती हैं तथा अन्तिम चतुर्थ पाद में अत्यन्त उच्च कोटि के योगियों के लिए कैवल्य योग अथवा प्रतिप्रसव योग का विधान किया है। यहाँ हम समाधि योग का संक्षेप में दिग्दर्शन करवाते हैं। प्रथम सूत्र में ही महर्षि पतंजलि समाधि का स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित कर देते हैं। **“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः”** तदोपरान्त सम्पूर्ण पाद में इस स्थिति को प्राप्त करने के उपायों का विस्तार है। यथा चित्त की पाँच भूमियाँ या अवस्थायें हैं। क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र व निरुद्धावस्था। प्रथम तीन योग की श्रेणी से बाहर हैं, केवल एकाग्र व निरुद्धावस्था ही योग के लिए सक्षम भूमि हैं। चित्त में उठने वाले समस्त विचारों या वृत्तियों को पाँच भागों में विभक्त किया है, जिन्हें पाँच वृत्ति कहते हैं। इन वृत्तियों का निरोध कर देना ही योग है। इनका निरोध कैसे हो? **‘अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः’** अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उनका निरोध सम्भव है। चित्त नाम की यह नदी उभयतोवाहिनी है। यह पाप के लिए भी बहती तथा पुण्य के लिए भी बहती है। वैराग्य के द्वारा विषयों के स्रोत को सुखाया जाता है तथा विवेकदर्शन के अभ्यास से विवेक स्रोत को उद्घाटित किया जाता है। **‘तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः’**। राजसिक व तामसिक वृत्तियों से रहित चित्त का निस्तरङ्ग प्रवाहित होना स्थिति है। उस स्थिति के लिए उत्साह बनाये रखना ही प्रयत्न है तथा उस स्थिति को संपादित करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना ही अभ्यास है वह अभ्यास दीर्घकाल पर्यन्त निरंतर तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से किया गया सत्कारवान अभ्यास दृढ़भूमि होता है। वैराग्यसंसार के देखे व सुने हुए तथा पारलौकिक विषयों से वितृष्ण चित्त की वशीकार अनुभूति वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है तथा सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते-करते चित्त की निरुद्ध अवस्था आने पर असम्प्रज्ञात समाधि लगती है। जो दो प्रकार की होती है- भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। संसार, जन्म व साधना आदि के माध्यम से विदेह और (प्रकृतिलय) प्रकृतिलीन देवगणों की भवप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि लगती है तथा दूसरे योगियों की असंज्ञातसमाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, सम्प्रज्ञात समाधि व प्रज्ञा पूर्वक होती है। श्रद्धा माता के समान योगी की रक्षा करती है। इस उपाय से चलने वाले योगी नौ प्रकार के होते हैं जैसे- मृदु उपाय, मध्य उपाय, (अधिमात्र) उत्तम उपाय योगी उनमें से मृदु उपाय के भी तीन भेद हैं तथा मध्य और तीव्र उपाय वाले भी तीन-तीन भेद वाले हैं। उनमें से उत्तम संवेग (अधिमात्र संवेग) व उत्तम उपाय (अधिमात्र उपाय) वाले योगियों की समाधि निकटतम होती है। इसके अतिरिक्त ईश्वर प्रणिधान के द्वारा भी समाधि लाभ तथा समाधि फल मिल सकता है। उस ईश्वर का वाचक प्रणव है, उसी का जप और उसी के अर्थ का ध्यान करना चाहिए। समाधि के मार्ग में उपस्थित होने वाले व्याधिस्त्यान आदि 14 प्रकार के अन्तरायों को हटाने के लिए एकतत्व (ब्रह्मतत्व) का अभ्यास करना चाहिए। तीसरा उपाय भी है। संसार में चार प्रकार के लोगों के साथ हमारा व्यवहार होता है-सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा व पापात्मा। सुखियों के प्रति मित्रता, दुःखियों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं को देखकर हर्षित होना तथा पापियों के प्रति उपेक्षा भाव रखने से भी चित्त को प्रसन्नता मिलती है। प्राणायाम का सतत अभ्यास करने से चित्त के मलों का क्षय होता है तथा चेतनतत्व की प्राप्ति होती है। **निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः** (योगदर्शन-1.41) निर्विचार समापत्ति के निर्मल हो जाने पर योगी को अध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होता है इस स्थिति में प्रज्ञा के प्रकाश पर (महल पर) आरुढ़ होकर शोकातीत विद्वान् योगी शोक करते

हुए सब प्राणियों को इसी प्रकार देखता है जैसे पर्वत के शिखर पर खड़ा हुआ कोई व्यक्ति भूमि पर रहने वालों को देखता है। तब इसकी प्रज्ञा, ऋतम्भरा बन जाती है। 'ऋतं बिभर्ति इति ऋतम्भरा' इस अवस्था में निरोध नामक संस्कार ही मात्र शेष बचता है तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। (योगदर्शन-1.51) उस निरोध संस्कार का भी निरोध हो जाने पर सर्वस्व निरोध होने से निर्वीज नामक समाधि सिद्ध होती है। मनुष्य जीवन की यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इस समाधि को प्राप्त करने के पश्चात् योगी इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् पुनः इस धरती पर जन्म नहीं लेता अपितु मोक्ष में ईश्वर के आनन्द में आनन्दित रहता है। यह पतंजलि का समाधि योग है।

■ क्रियायोग— तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः (योगदर्शन-2.1)

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग हैं अर्थात् योग के ये तीन साधन 'क्रियायोग' कहलाते हैं। इस सूत्र में क्रियायोग का स्वरूप बतलाया है।

क्रियायोग के तीन विभाग हैं- तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। क्रियायोग का पहला भाग तप है। द्वन्द्वसहन को तप कहते हैं। सुख-दुःख, शीतोष्ण, भूख-प्यास, हानि-लाभ, मानापमान आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना चाहिये। प्रायः साधक द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर अपने मुख्य कर्तव्य को छोड़ देता है और निराशावादी बन जाता है। ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में व्यक्ति धर्ममार्ग को छोड़कर अधर्ममार्ग को स्वीकार करने वाला बन जाता है अथवा अकर्मण्य बन जाता है। धर्माचरण को छोड़ने से अधर्म की प्रवृद्धि होती है और उससे अशुभ संस्कार बनते हैं; जो अधर्मोत्पत्ति के कारण बनते हैं। इसलिए कठिनाइयों को सहते हुए धर्माचरण करते रहना चाहिए। कठिनाइयों के सहने से सहनशक्ति बढ़ती है और उनका सहना सरल हो जाता है।

क्रियायोग का दूसरा भाग स्वाध्याय है। प्रणव व गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों का जप तथा मोक्ष प्रदायक शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है अथवा अपने आप का आत्मनिरीक्षण करना भी स्वाध्याय की श्रेणी में आता है। स्वाध्याय करने से ईश्वर, वैदिकविद्वान्, योगी आदि इष्ट देवताओं या महापुरुषों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और उनसे विविध उत्तम कार्यों में सहायता प्राप्त हो जाती है।

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते।

स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।

मोक्षशास्त्रों = (वेद और वेदानुकूल आर्ष) का पढ़ना-पढ़ाना और प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का अर्थसहित जप करते हुए सर्वत्र भगवान् के एकत्व को अनुभव करना स्वाध्याय है, स्वाध्यायपूर्वक योग अर्थात् समाधि का सेवन या अभ्यास करना चाहिए। जो ग्रन्थ ईश्वर, जीव, प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करवाते हैं। मोक्ष के स्वरूप को, उसके साधनों को, बाधकों को और उसके फल को ठीक प्रकार से बतलाते हैं वे मोक्षशास्त्र कहलाते हैं।

■ अष्टांग योग—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गनि। (योगदर्शन-2.29)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं।

यम—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन-2.30)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं।

1. **अहिंसा**-सर्वथा सर्वदा सभी प्राणियों के साथ वैरभाव को छोड़कर प्रीति से वर्तना, अहिंसा है। यदि किसी व्यक्ति को चोरी आदि अशुभ कर्म करने पर उसके सुधार के लिये और अन्यो के उपकार के लिये प्रेमपूर्वक उचित दण्ड दिया जाय तो वह अहिंसा है, हिंसा नहीं।

2. **सत्य**- जैसा देखा हो, अनुमान से जाना हो और सुना हो, वैसा ही मन और वाणी में होना सत्य है। ऐसा भी कह सकते हैं कि जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना, मानना, बोलना और शरीर से उसको आचरण में लाना,

सत्य है। सत्य को परीक्षापूर्वक जानना और उसका सर्व हितार्थ ही प्रयोग करना, सत्य है। वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानना, मानना, बोलना, आचरण में लाना, असत्य है। परन्तु हित के नाम से सत्य के स्थान में असत्य का आचरण करना सत्य नहीं है।

3. **अस्तेय**- मन, वाणी और शरीर से चोरी का परित्याग करके उत्तम कार्यों में तन, मन, धन से सहायता करना, अस्तेय है। केवल चोरी को छोड़ देना ही अस्तेय नहीं है।

4. **ब्रह्मचर्य**- वेदों को पढ़ना, ईश्वरोपासना करना और वीर्य की रक्षा करना, ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर सामर्थ्य लाभ होता है। अर्थात् योगी अपने अप्रतिहत गुणों को बढ़ाता है। स्वयं सिद्ध होता हुआ अपने शिष्यों में ज्ञान का आधान करने में समर्थ होता है।

5. **अपरिग्रह**- विषयों में उपार्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा दोष देखकर विषयभोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, अपरिग्रह है। इसको इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि हानिकारक, अनावश्यक वस्तु और अभिमानादि हानिकारक, अनावश्यक अशुभ विचारों को त्याग देना, अपरिग्रह है। जो-जो वस्तु और विचार ईश्वर प्राप्ति में बाधक हैं उन सबका परित्याग और जो-जो वस्तु, विचार ईश्वर प्राप्ति में साधन हैं उनका ग्रहण करना, अपरिग्रह है।

नियम-

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगदर्शन-2.32)

सूत्रार्थ-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम कहलाते हैं।

1. **शौच**-शौच अर्थात् शुद्धि। शुद्धि दो प्रकार की है। एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक। शरीर, वस्त्र, स्थान, पात्र, भोजन आदि को शुद्ध रखना और धन, सम्पत्ति को न्यायपूर्वक उपार्जित करना बाहर की शुद्धि है। अविद्या, मिथ्याभिमान, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को दूर करना आन्तरिक शुद्धि है। बाहर की शुद्धि न्यून परिश्रम साध्य है और आन्तरिक शुद्धि अधिक परिश्रम साध्य है। बाहर की शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि करने में अधिक प्रयत्न करना चाहिये।

2. **सन्तोष** -सम्पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् जो भी उपलब्धि हो, उसी में सन्तुष्ट रहना, उससे अधिक की इच्छा न करना, सन्तोष है।

3. **तप**- धर्माचरण करते हुए हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, सदी-गर्मी, भूख-प्यास आदि को शान्त चित्त से सहन करना, तप है। जिन उत्तम कार्यों के करने से स्वयं का और अन्यो का दुःख दूर होता है और सुख की प्राप्ति होती है उनको करते रहना और न छोड़ना, धर्माचरण है।

4. **स्वाध्याय**-वेद और वेदानुकूल मोक्ष के स्वरूप को एवं उसके साधन व बाधकों को बतलाने वाले ग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना और ईश्वर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले मन्त्रों एवं प्रणव आदि का अर्थसहित जप करना, स्वाध्याय है।

5. **ईश्वरप्रणिधान**- समस्त विद्याओं को देने वाले परमगुरु ईश्वर में समस्त कर्मों को समर्पित कर देना, उसकी भक्ति करना, व्यवहार में उसके आदेशों का पालन करना, शरीर आदि पदार्थों को उसके मानकर धर्माचरण करना, कर्मों का लौकिक फल न चाहना, ईश्वरसाक्षात्कार को ही लक्ष्य बनाकर कार्यों को करना, ईश्वरप्रणिधान है। मोक्षप्राप्ति का ईश्वरप्रणिधान विशेष साधन है। इसका पहले उल्लेख कर दिया गया है। ईश्वरप्रणिधान को अच्छे प्रकार से जानकर तदनुसार आचरण करने से ईश्वर सहायता देता है। जिससे शीघ्र ही समाधि की सिद्धि और विघ्नों का निराकरण हो जाता है।

आसन-

स्थिरसुखमासनम्। (योगदर्शन-2.46)

जिस अवस्थामें शरीर स्थिर और सुखयुक्त हो वह 'आसन' कहाता है। वह जैसे कि पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय पर्यङ्क, क्रोज्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख और यथासुख आदि।

प्राणायाम-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः। (योगदर्शन-2.49)

आसन की सिद्धि हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोक देना अर्थात् श्वास, प्रश्वास की जो सामान्य गति चल रही थी उसे रोककर प्राण को विशेष गति में ले आना 'प्राणायाम' कहलाता है। आसन के सिद्ध होने पर बाह्य वायु को भीतर भर लेना 'श्वास' है। कोष्ठगत वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। उन दोनों की गति का विच्छेद अर्थात् दोनों की सामान्य गति को रोकना 'प्राणायाम' कहलाता है।

प्रत्याहार-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन-2.54)

इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना 'प्रत्याहार' कहलाता है, इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियां निरुद्ध हो जाती हैं, चित्त के व्युत्थान से इन्द्रियों का भी व्युत्थान हो जाता है। इतर इन्द्रिय जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार मधु मक्खियों की रानी के उड़ने पर मधुमक्खियाँ उड़ती हैं, बैठने पर बैठती हैं उसी प्रकार इन्द्रियां चित्त के निरोध होने पर निरुद्ध होती हैं, यह 'प्रत्याहार' है।

धारणा-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन-3.1)

चित्त को देशविशेष अर्थात् नाभि, हृदय, मस्तक, आदि में स्थिर करना 'धारणा' है। नाभि चक्र में, हृदय कमल में, मस्तकगत प्रकाश में, नासिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग आदि प्रदेशों में अथवा बाह्य विषय में चित्त का केवल वृत्ति से बाँधना 'धारणा' कही जाती है।

ध्यान-

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन-3.2)

जिस स्थान में धारणा की हुई है उसी स्थान में ज्ञेय-विषयक ज्ञान का एक समान बना रहना अर्थात् ज्ञेय विषयक ज्ञान से भिन्न ज्ञान को उपस्थित न करना 'ध्यान' है। उस (धारणा विषयक) प्रदेश में ध्येय रूपी आलम्बन वाले ज्ञान की एकरूपता (ज्ञान का) एक समान प्रवाह अर्थात् दूसरे ज्ञान से अमिश्रित ज्ञान प्रवाह 'ध्यान' कहलाता है।

समाधि-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (योगदर्शन-3.3)

वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, अपने ध्यानात्मक स्वरूप से शून्य बना जैसा अर्थात् ज्ञानस्वरूप से गौण हुआ 'समाधि' है। ध्येयाकार में भासित होने वाला ध्यान ही जब अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से रहित जैसा हो जाता है ध्येय के स्वभाव को प्राप्त होने के कारण, तब 'समाधि' कहा जाता है। इस सूत्र में समाधि का स्वरूप बतलाया गया है।

ध्यानकाल में ध्याता = ध्यान करने वाला, ध्यान = जिस ज्ञान के द्वारा ध्येय की गवेषणा की जाती है वह ज्ञान और ध्येय = जिस की गवेषणा की जाती है वह पदार्थ, तीनों भिन्न-भिन्न रूप से भासित होते हैं। अर्थात् समाधि अवस्था में ध्यान गौण हो जाता है और पदार्थ का स्वरूप प्रधान रहता है। स्वरूपशून्य का अभिप्राय यह नहीं कि योगाभ्यासी ज्ञान से शून्य हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ का साक्षात्कार समाधि अवस्था में मुख्य रहता है।

■ **कैवल्ययोग या प्रतिप्रसवयोग-** योग दर्शन के चतुर्थ पाद में अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के योगियों के लिए कैवल्ययोग या प्रतिप्रसवयोग का विधान है। चित्त में पाँच वृत्तियों में से कोई न कोई सदा बनी ही रहती है। जब चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती तब आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है- 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

(योगदर्शन-1.3) तथा 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'। (योगदर्शन-1.4) चित्त को वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि चित्त कभी वस्त्वाकारकारित तथा कभी वैसा नहीं रहता, इससे सिद्ध होता है कि चित्त का स्वरूप परिणामशील वाला है। किन्तु सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्। (योगदर्शन-4.18) उस चित्त के साक्षी पुरुष को अपरिणामी होने के कारण, उस पुरुष की चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं, यदि चित्त के समान पुरुष भी परिणत हुआ करता तो उसकी विषयभूत चित्तवृत्तियाँ शब्द आदि विषयों की भाँति कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती। इसलिए मन का सदा ही पुरुष को ज्ञात रहना उसके अपरिणामित्व अर्थात् कूटस्थत्व को सिद्ध करता है। जैसे बरसात में घास के अंकुर निकलने से उस घास के बीज के अस्तित्व की अनुमिती होती है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग के बातें सुनने से जिस प्राणी में रोमांच, अश्रुपात दिखाई पड़ते हैं उस प्राणी में भी योगाङ्गानुष्ठानादि क्रियाओं से उत्पन्न तथा मोक्ष कारक पुरुष के साक्षात्कार का बीज है, यह अनुमित होता है। उस व्यक्ति में स्वाभाविक आत्मभावभावना प्रवृत्त होती है। अविद्या के न रह जाने पर आत्मतत्व शुद्ध अर्थात् चित्त के धर्मों से सम्बन्धरहित हो जाता है इस विशेष दर्शन से योगी की आत्मभावभावना विल्कुल निवृत्त हो जाती है तब योगी का चित्त विवेकमार्गी एवं कैवल्यफलोन्मुख होता है। तदाविवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ (योगदर्शन-4.26) उस समय योगी का जो चित्त पहले विषयाग्र और अज्ञानपथगामी रहता था, उसका वही चित्त अन्य प्रकार का अर्थात् कैवल्यभिमुख और विवेकमार्गसंचारी हो जाता है। अविद्यादि क्लेश व्युत्थान ज्ञान को उत्पन्न करने में ऐसे ही असमर्थ होते हैं जैसे जले हुए बीज उगने में समर्थ नहीं होते। इस अवस्था में यह वीतराग योगी सर्वथा विवेकख्याति से युक्त होने के कारण इससे धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है। ततः क्लेशकर्मनिवृत्तः। (योगदर्शन-4.3) उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से अविद्यादि क्लेश समूल विनष्ट हो जाते हैं तथा पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेशों और कर्म संस्कारों की निवृत्ति हो जाने पर योगी जीवन मुक्त हो जाता है क्योंकि अज्ञान ही जन्म का कारण है। नष्ट हुए अज्ञानवाला कोई भी प्राणी कभी उत्पन्न नहीं होता। तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्थानन्त्याज्ञेयमल्पम्। (योगदर्शन-4.31) समस्त आवरणमलों से रहित ज्ञान के अनन्त हो जाने से ज्ञेय स्वल्प रह जाता है अर्थात् ज्ञेय इतना ही रह जाता है जैसे आकाश में जुगनू। पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति। (योगदर्शन-4.34) भोग और अपवर्ग संपादित कर चुकने वाले तथा पुरुष के प्रयोजन (मोक्ष)को प्राप्त कर चुकने वाले योगी के (महदादिप्रकृतिविकृति रूपी) गुणों का अव्यक्त में जो लय है वही कैवल्य है अर्थात् फिर से पुरुष का बुद्धि सत्त्व से सम्बन्ध न होने के कारण केवल चित्तिशक्ति ही शेष रह जाती है तथा गुणों का अपने मूल कारण मूल प्रकृति में प्रतिप्रसव हो जाता है यही कैवल्य या प्रतिप्रसव योग है।

■ हठयोग का सिद्धांत—

हठयोग का अर्थ सामान्यजन जबरदस्ती किया जाने वाला अर्थात् शरीर की शक्ति के विपरीत लगाकर किया जाने वाला योग के अर्थ में जानते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है। 'हठ' शब्द का अर्थ शास्त्रों में प्रतीकात्मक रूप से लिया गया है। हठयोग की परिभाषा देते हुए योग के ग्रन्थों में कहा गया है कि -

'हकार कीर्तितः सूर्यस्य ठकार चन्द्र उच्यते।

सूर्या चन्द्रमसौयोगाद् हठयोगो निगद्यते। (हठयोग प्रदीपिका)

अर्थात्, हठ शब्द 'ह' और 'ठ' दो अक्षरों से मिलकर बना है। इनमें हकार का अर्थ सूर्य स्वर या पिंगला नाड़ी है 'ठकार' का अर्थ चन्द्र स्वर या इडा नाड़ी से लिया है इन सूर्य और चन्द्र स्वरों के मिलन को ही हठयोग कहा गया है। जिससे मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना में प्रवेश कर ऊपर की ओर चलने लगती है। तथा षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचकर ब्रह्म के साथ एकत्व को प्राप्त होती है। यही आत्मा और परमात्मा तल का मिलन है, इस मिलन से साधक का अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान का उदय होता है। दुःखों की अत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इसलिए इस मिलन की अवस्था को योग कहा गया है। यही हठयोग का वास्तविक अर्थ है।

शरीर मन एवं प्राण को वश में करना हठयोग का लक्ष्य है। क्योंकि शरीर और मन की साधना किये बिना आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हठयोग में इस मिलन को प्राप्त करने के लिए षट्कर्म आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, नादानुसंधान आदि का

वर्णन किया गया है। हठयोग प्रदीपिका में मुख्य रूप से चार अंगों का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार है (1) आसन (2) प्राणायाम (3) मुद्रा एवं (4) नादाननुसंधान।

घेरण्ड संहिता में हठयोग के साधनों का वर्णन करते हुए कहा गया है-

**शोधनं दृढताश्चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तश्च घटस्य सप्तसाधनम्॥**

योगाभ्यासी पुरुष को सात साधनों का अभ्यास करना चाहिए।

1. शरीर की शुद्धि, 2. शरीर को दृढ़ करना 3. शरीर में स्थिरता लाना, 4. धैर्य की प्राप्ति करना, 5. शरीर को हल्का करना, 6. प्रत्यक्ष करना और, 7. निर्लिप्तता, ये सात साधन किनसे प्राप्त होते हैं। इसका वर्णन करते हुए 'घेरण्ड संहिता में कहा गया है।-

'षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद दृढम्।

मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।

समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः॥' (घेरण्ड संहिता-1/10-11)

अर्थात् षट्कर्मों के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। आसनों से शरीर दृढ़ होता है। मुद्राओं से शरीर में स्थिरता आती है। प्रत्याहार से धैर्य की प्राप्ति होती है। प्राणायाम के द्वारा शरीर लघुता को प्राप्त होती है। तथा समाधि से चित्त निर्लिप्त होता है। जिससे अवश्य ही मुक्ति हो जाती है। इसमें कोई संशय नहीं है।

● 1.4.5- योग के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचय यथा-पंचकोश, पंचभूत, पंचप्राण-

■ देह में स्थित पंचकोश-

मनुष्य की आत्मा पाँचों कोशों के साथ संयुक्त है, जिन्हें पंचशरीर भी कहते हैं। ये पाँच कोश निम्नांकित हैं-

1. **अन्नमय कोश :-** यह पाँचभौतिक स्थूल शरीर का पहला भाग है। अन्नमय कोश त्वचा से शुक्रपर्यन्त सप्तधातुमय है जो कि पृथ्वी-तत्त्व से सम्बन्धित है। नियमित आहार-विहार से अन्नमय कोश पुष्ट व स्वस्थ रहता है।
2. **प्राणमय कोश :-** शरीर का दूसरा भाग प्राणमय कोश है। शरीर और मन के मध्य में प्राण माध्यम हैं। ज्ञान-कर्म के सम्पादन का समस्त कार्य प्राण से बना प्राणमय कोश ही करता है। श्वासोच्छ्वास के रूप में भीतर-बाहर जाने-आनेवाला प्राण स्थान तथा कार्य के भेद से दस प्रकार का माना जाता है। जैसे- प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान मुख्य प्राण हैं तथा धनञ्जय, नाग, कूर्म, कृकल और देवदत्त, ये गौण प्राण या उपप्राण हैं। प्राण मात्र का मुख्य कार्य है-आहार का यथावत् परिपाक करना, शरीर में रसों को समभाव से विभक्त तथा वितरित करते हुए देहेन्द्रियों का तर्पण करना, रक्त के साथ मिलकर देह में सर्वत्र घूम-घूमकर मलों का निष्कासन करना, जो कि देह के विभिन्न भागों में रक्त में आ मिलते हैं। देह के द्वारा भोगों का उपभोग करना भी इसका कार्य है। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से प्राणमय कोश की कार्यशक्ति बढ़ती है।
3. **मनोमय कोश :-** सूक्ष्म शरीर के इस पहले क्रियाप्रधान भाग को मनोमय कोश कहते हैं। मनोमय कोश के अन्तर्गत मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त हैं, जिन्हें अन्तःकरणचतुष्टय कहते हैं। ज्ञान एवं ध्यान से मनोमय कोश की शुद्धि एवं पुष्टि होती है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध बाह्य जगत् के व्यवहार से अधिक रहता है।
4. **विज्ञानमय कोश :-** सूक्ष्म शरीर का दूसरा भाग, जो ज्ञानप्रधान है, वह विज्ञानमय कोश कहलाता है। इसके मुख्यतत्त्व ज्ञानयुक्त बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक विज्ञानमय कोश को ठीक से जान-समझकर उचित रूप से आचार-विचार करता है और असत्य, भ्रम, मोह, आसक्ति आदि से सर्वथा अलग रहकर निरन्तर ध्यान एवं समाधि का अभ्यास करता है, उसे 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' उपलब्ध हो जाती है। प्रज्ञावान योगी विवेक एवं वैराग्य से चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करके आत्मबोध को उपलब्ध हो जाता है।
5. **आनन्दमय कोश :-** इस कोश को हिरण्यमय कोश, हृदयगुहा, हृदयाकाश, कारणशरीर, लिंगशरीर आदि नामों

से भी पुकारा जाता है। यह हमारे हृदय-प्रदेश में स्थित होता है। हमारे आन्तरिक जगत से इसका सम्बन्ध अधिक रहता है, बाह्य जगत से बहुत कम। मानव-जीवन, मानव के स्थूल शरीर का अस्तित्व और संसार के समस्त व्यवहार इसी पर आश्रित हैं निर्बीज समाधि की प्राप्ति होने पर साधक आनन्दमय कोश में जीवन्मुक्त होकर सदा आनन्दमय स्थिति में रहता है।

■ पंचभूत-

प्रत्येक पदार्थ में पाँचों महाभूत विद्यमान होते हैं, तो किसी भी एक महाभूत की प्रधानता होती है। इसी प्रधानता के आधार पर ही आकाश महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आकाशीय, वात (वायु) महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य वायव्य, तेज अर्थात् अग्नि महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आग्नेय, जल की प्रधानता वाले द्रव्य आप्य एवं पृथ्वी महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य पार्थिव कहलाते हैं। इनकी पहचान के लिए संक्षेप में इनकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है-

आकाशीय द्रव्य- मुलायम, हल्के, सूक्ष्म, समतल तथा शब्द गुण से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में कोमलता, लघुता चंचलता और छिन्द्रों की अधिकता होती है।

वायव्य द्रव्य- हल्के, शीतल, रूखे, खुरदरे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण से युक्त होते हैं। इन पदार्थों के सेवन से शरीर में खुरदरापन, गति एवं फूर्तीलापन आता है।

तैजस द्रव्य- गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हल्के, रूक्ष, चिपचिपेपन से रहित तथा रूप के गुणों से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में जलन, चयापचय-शक्ति, पाचन-शक्ति, तेज, चमक एवं वर्णप्रसाद (रंग का निखार) होती है।

आप्य या जलीय द्रव्य- जो द्रव्य द्रव (तरल), शीत, गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र तथा रस गुण प्रधान होते हैं उन्हें आप्य या जलीय द्रव्य कहते हैं।

पार्थिव द्रव्य- भारी, दृढ़, सख्त, स्थूल, चिपचिपेपन से रहित, ठोस और गन्ध से पूर्ण होते हैं। इनके सेवन से शरीर में मोटापा, दृढ़ता वजन एवं स्थूलता में वृद्धि होती है। इन पांचभौतिक द्रव्यों के गुणों और शरीर की रचना को देखते हुए स्पष्ट होता है कि शरीर में मुख्यतः **पृथ्वी** और **जल**, ये दो महाभूत विद्यमान हैं। शरीर का ठोस भाग पृथ्वी से तथा द्रव भाग जल से बना है। खाली भाग मुख्य रूप से आकाश से और आंशिक रूप से वात बना है। जो भोज्य पदार्थ हम खाते हैं, उनको पचाकर रस, रक्त, अस्थि आदि धातुओं में परिवर्तित करने का काम 'अग्नि' महाभूत करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ 'वात' महाभूत के कारण सम्पन्न होती हैं।

■ पञ्चप्राण-

प्राण साक्षात् ब्रह्म से अथवा प्रकृति-रूप माया से उत्पन्न है। प्राण गत्यात्मक है। इस प्राण की गत्यात्मकता सदागतिक वायु में पायी जाती है, एक अर्थ में प्राण वह सवार है जो वायु रूपी घोड़े पर बैठकर यात्रा करता है, अतः गौणी वृत्ति से वायु को ही प्राण कह देते हैं। शरीरगत स्थानभेद से एक ही वायु प्राण अपान आदि नामों से व्यवहृत होता है। प्राण-शक्ति एक है। इसी प्राण को स्थान एवं कार्यों के भेद विविध नामों से जाना जाता है। देह में मुख्य रूप से पाँच प्राण तथा पाँच उपप्राण हैं।

पंचप्राण की अवस्थिति तथा कार्य-

1. **प्राण (Respiratory System):-** शरीर में कण्ठ से हृदय पर्यन्त जो वायु कार्य करता है, उसे 'प्राण' कहा जाता है।

कार्य : यह प्राण नासिका-मार्ग, कण्ठ, स्वर-तन्त्र, वाक्-इन्द्रिय, अन्न-नलिका, श्वसन-तन्त्र, फेफड़ों एवं हृदय को क्रियाशीलता तथा शक्ति प्रदान करता है।

2. **अपान (Excretory System):-** नाभि से नीचे मूलाधार पर्यन्त रहने वाले प्राणवायु को 'अपान' कहते हैं।

कार्य : मल, मूत्र, आर्तव, शुक्र, अधोवायु, गर्भ का निःसारण इसी वायु के द्वारा होता है।

3. **उदान :** कण्ठ के ऊपर से सिर पर्यन्त जो प्राण कार्यशील रहता है, उसे 'उदान' कहते हैं।

कार्य : कण्ठ से ऊपर शरीर के समस्त अंगों नेत्र, नासिका एवं सम्पूर्ण मुखमण्डल को ऊर्जा और आभा प्रदान करता है। पिच्युटरी तथा पिनियल ग्रन्थि-सहित पूरे मस्तिष्क को यह 'उदान' प्राण क्रियाशीलता प्रदान करता है।

4. **समान (Digestive System) :** हृदय के नीचे से नाभि पर्यन्त शरीर में क्रियाशील प्राणवयु को 'समान' कहते हैं।

कार्य : यकृत, आँत, प्लीहा एवं अग्न्याशय सहित सम्पूर्ण पाचन-तन्त्र की आन्तरिक कार्य-प्रणाली को नियन्त्रित करता है।

5. **व्यान (Circulatory System) :** यह जीवनी प्राण-शक्ति पूरे शरीर में व्याप्त है।

कार्य : वायु शरीर की समस्त गतिविधियों को नियमित तथा नियन्त्रित करता है। सभी अंगों, मांस, पेशियों, तन्तुओं, सन्धियों एवं नाड़ियों को क्रियाशीलता, ऊर्जा एवं शक्ति यही 'व्यान प्राण' प्रदान करता है।

इन पाँच प्राणों के अतिरिक्त शरीर में 'देवदत्त', 'नाग', 'कृकल', 'कूर्म' एवं 'धनंजय' नामक पाँच उपप्राण हैं, जो क्रमशः छींकना, पलक झपकना, जँभाई लेना, खुजलाना, हिचकी लेना आदि क्रियाओं को संचालित करते हैं।

प्राणों का कार्य प्राणमय कोश से सम्बन्धित है और प्राणायाम इन्हीं प्राणों एवं प्राणमय कोश को शुद्ध, स्वस्थ और निरोग रखने का प्रमुख कार्य करता है, इसीलिए प्राणायाम का सर्वाधिक महत्त्व और उपयोग है। प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने से पहले इसी पृष्ठभूमि का परिज्ञान बहुत आवश्यक है।

● 1.4.6.- गुरु और प्रमुख योगी-

■ **पतञ्जलि-** विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में पतञ्जलि को गोन्द्रीय, गोणिकापुत्र, नागनाथ, अहितपति, फणिभृत्, शेषराज, शेषाहि, चूर्णिकार और पदकार आदि नामों से स्मरण किया है।

पतञ्जलि -विरचित तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं- सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र और महाभाष्य। सामवेद की एक पातञ्जलशाखा भी थी, इसका निर्देश कई ग्रंथों में मिलता है। योग सूत्र के व्यासभाष्य में किसी पतञ्जलि का एक मत उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवर्तिकतात्पर्य-टीका में योगदर्शन के व्यासभाष्य 4/10 के पाठ को स्वशब्दों में उद्धृत करते हुए पतञ्जलि के नाम से स्मरण किया है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाटीका में पतञ्जलि के सांख्यसिद्धान्त-विषयक अनेक मत उद्धृत हैं। आयुर्वेद की चरकसंहिता भी पतञ्जलि द्वारा परिष्कृत मानी जाती है। समुद्रगुप्तविरचित कृष्णचरित के अनुसार पतञ्जलि ने चरक में कुछ धर्माविरुद्ध-योगों का सन्निवेश किया था।

चक्रपाणी पुण्यराज और भोजदेव आदि अनेक ग्रन्थकार महाभाष्य योगसूत्र और चरक-संहिता इन तीनों का कर्ता एक मानते हैं। मैक्समूलर ने षडगुरुशिष्य का एक पाठ उद्धृत किया है, जिसके अनुसार योगदर्शन और निदान-सूत्र का कर्ता एक व्यक्ति है।

विद्ययोद्विक्तगुणतया भूमावमरतां गतः।
पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सद॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्।
धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृता॥
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्॥

अर्थात् महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किये, ओर योग की विभूतियों का निदर्शक योग व्याख्यानभूत 'महानन्दकाव्य' रचा।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि का चरक-संहिता और योगदर्शन के साथ कुछ सम्बन्ध

अवश्य है। चक्रपाणी आदि ग्रन्थकारों का लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं है। हमारा विचार है कि पातञ्जलशाखा, निदानसूत्र और योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, यह अति प्राचीन ऋषि है। आङ्गिरस पतञ्जलि का उल्लेख मत्स्य पुराण में मिलता है। पाणिनि ने 214।69 के उपकादिगण में पतञ्जलि पद पढ़ा है। महाभाष्यकार इनसे भिन्न व्यक्ति है। और वह इनकी अपेक्षा अर्वाचीन है।

महामुनी पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण पर एक महती व्याख्या लिखी है। यह संस्कृत वाङ्मय में महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण जैसे दुरूह और शुष्क समझे जाने वाले विषय को जिस सरल और सरस रूप से हृदयङ्गम कराया है, उसे देखते ही बनता है। ग्रन्थ की भाषा इतनी सरल और पतञ्जल है कि मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण सम्प्रदाय में, अपितु सकल संस्कृत वाङ्मय में अपने ढंग का एक अद्भुत ग्रन्थ है। महाभाष्य पाणिनीय व्याकरण का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। समस्त वैयाकरण इसके सन्मुख नतमस्तक हैं। अर्वाचीन वैयाकरण जहाँ सूत्र, वार्तिक और महाभाष्य में परस्पर विरोध समझते हैं, वहाँ वे महाभाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं।

पतञ्जलि काशी में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। इनका जन्म गोनारद्य (गोनिया) में हुआ था पर ये काशी में नागकूप पर बस गये थे। ये व्याकरणाचार्य पाणिनि के शिष्य थे। काशी वासी आज भी श्रावण कृष्ण 5 नागपंचमी को छोटे गुरु का बड़े गुरु का नाग लो भाई नाग लो कहकर नाग के चित्र बांटते हैं क्योंकि पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है।

पतञ्जलि महान् चिकित्सक थे और इन्हें ही 'चरक संहिता' का प्रणेता माना जाता है योगसूत्र पतञ्जलि का महान् अवदान है। पतञ्जलि संभवतः पुष्यमित्र शंगु(195.142ई.पू.) के शासनकाल में थे। राजा भोज ने इन्हे तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरातं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

(अर्थात् चित्त-शुद्धि के लिए योग (योगसूत्र), वाणी-शुद्धि के लिए व्याकरण (महाभाष्य) और शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यशास्त्र (चरकसंहिता) देने वाले मुनी श्रेष्ठ पतञ्जलि को प्रणाम!)

ई. पू. द्वितीय शताब्दी में 'महाभाष्य' के रचयिता पतञ्जलि काशी-मंडल के ही निवासी थे। मुनीत्रय की परम्परा में ये अंतिम मुनी थे। पाणिनि के पश्चात् पतञ्जलि सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी पुरुष हैं। उन्होंने पाणिनि व्याकरण के महाभाष्य की रचना कर उसे स्थिरता प्रदान की। वे अलौकिक प्रतिभा के धनी थे। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर भी इनका समान रूप से अधिकार था। व्याकरण शास्त्र में उनकी बात को अंतिम प्रमाण समझा जाता है। उन्होंने अपने समय के जनजीवन का पर्याप्त निरीक्षण किया था। अतः महाभाष्य व्याकरण का ग्रन्थ होने के साथ-साथ तत्कालीन समाज कविश्रवकोश भी है।

प्राचीन विद्यारण्य स्वामी ने अपने ग्रंथ 'शंकर दिग्विजय' आदि शंकराचार्य में गुरु गोविंद पादाचार्य को पतञ्जलि का रूपांतर माना है। इस प्रकार उनका संबंध अद्वैत वेदांत के साथ जुड़ गया।

पतञ्जलि के समय निर्धारण के संबंध में पुष्यमित्र कण्व वंश के संस्थापक ब्राह्मण राजा के अश्वमेध यज्ञों की घटना को लिया जा सकता है। यह घटना ई.पू. द्वितीय शताब्दी का मध्यकाल अथवा 150 ई.पू. माना जा सकता है।

● **शंकराचार्य**— शंकरावतार भगवान आदि शंकराचार्य के जन्म के संबंध में बहुत मतभेद है ईसा से पूर्व छठी शताब्दी से लेकर 9वीं शताब्दी पर्यंत ही इनका आविर्भाव हुआ था। कुछ विद्वानों ने यह प्रमाणित किया है कि आचार्य पाद का जन्म ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व का है। मठों की परम्परा से भी यही बात प्रमाणित होती है कर्णेल प्रदेश में पूर्ण नदी के तट पर कालंडी नामक ग्राम में बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण के यहाँ इनका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम सुभद्रा था। इनका जन्म वैशाख मास की शुक्ल पंचमी के दिन हुआ था। इनसे पूर्व इनके माता-पिता संतानहीन थे।

बालक शंकर के रूप में कोई महान विभूति अवतरित हुई इसका प्रमाण बचपन से ही मिलने लगा। एक वर्ष की अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषा में अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्ष की अवस्था में माता से पुराण आदि की कथा सुनकर कंठस्थ करने लगे। तीन वर्ष की अवस्था में उनका चूड़ाकर्म संस्कार कराकर उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पांचवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् उन्हें गुरु के घर पढ़ने के लिए भेज गया, और केवल सात वर्ष की अवस्था में ही वेद-वेदान्त और वेदांगों का पूर्ण अध्ययन करके ये घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा को देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

विद्याध्ययन समाप्त कर शंकर ने संन्यास लेना चाहा परन्तु माता ने आज्ञा नहीं दी। शंकर माता के अनन्य भक्त थे। उन्हें कष्ट देकर उनकी आज्ञा के विरुद्ध जाकर वे संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माता के साथ वे नदी में स्नान करने गये। उन्हें एक मगर ने पकड़ लिया! इस प्रकार पुत्र को संकट में देख माता व्याकुल हो उठी। माता को परेशान देखकर शंकर ने माता से कहा कि माँ संन्यास लेने के यदि आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ दिया। माता ने विवश होकर तुरन्त आज्ञा दे दी। तो मगर ने शंकर को छोड़ दिया। इस तरह माता की आज्ञा प्राप्त कर वे आठ वर्ष की आयु में ही घर से निकल पड़े। आते समय माता की इच्छा के अनुसार यह वचन दे गये कि तुम्हारी मृत्यु के समय मैं घर पर उपस्थित हो जाऊंगा।

घर से चलकर शंकर नर्मदा तट पर आये और वहाँ स्वामी गोविन्दभगवत पाद से दीक्षा ली। गुरु उपदिष्ट मार्ग से साधना आरम्भ की और अल्प काल में ही बहुत बड़े योग सिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धि से प्रसन्न होकर गुरु ने इन्हें काशी जाकर वेदान्त सूत्र का भाष्य लिखने की आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी आ गये। काशी आने पर इनकी ख्याति दिनोंदिन बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व ग्रहण करने लगे। इनके प्रथम शिष्यों को पढ़ाने के साथ-साथ ये ग्रंथ भी लिखते जाते थे।

शंकराचार्य जी ने कई ग्रंथ लिखे जिनमें से उनके प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं - ब्रह्मा-सूत्र शारीरिक भाष्य, ईश, केन आदि 11 उपनिषदों के भाष्य, गीता-भाष्य, विष्णुसहस्रनाम, ललिता त्रिशती, पंचीकरण, शिवमन्जरी, आनन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी, विविध स्तोत्र एवं साहित्य इत्यादि।

शंकराचार्य जी अद्वैत के पोषक थे। यह बहुत ही गूढ़ और उच्च कोटि का सिद्धान्त है, जो अधिकारी पुरुषों के ही समझने की चीज है। इन्होंने साधना मार्ग में अन्य मतों की उपयोगिता भी यथास्थान स्वीकार की है। इनकी साधना मुख्य रूप से ज्ञान योग की साधना है इन्होंने अंतःकरण को शुद्धि पर विशेष बल दिया, और कहा कि सभी मतों की साधना से अन्तःकरण शुद्ध होता है। क्योंकि अंतःकरण शुद्ध होने पर ही वास्तविकता का बोध हो सकता है। इनका कहना था कि अशुद्धबुद्धि और मन के निश्चय एवं संकल्प भ्रामक ही होते हैं। इनके सिद्धान्त में शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और इसलिए धर्मानुसार कर्म, भक्ति अथवा अन्य किसी मार्ग से अन्तःकरण को शुद्ध करते हुए वहाँ तक पहुँचना चाहिए।

इन्होंने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतरेय तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् पर भाष्य लिखा। वेदों में लिखे ज्ञान को एकमात्र ईश्वर को संबोधित समझा और उसका प्रचार तथा वार्ता पूरे भारत में की। उस समय वेदों की समझ के बारे में मतभेद होने पर उत्पन्न जैन और बौद्ध मतों को शास्त्रार्थी द्वारा खण्डित किया और भारत में चार कोनों पर चार मठों की स्थापना की।

सम्पूर्ण भारत वर्ष में भ्रमण कर अद्वैत वेदान्त का प्रचार करना, दरभंगा में जाकर मण्डन मिश्र से शस्त्रार्थ कर वेदान्त की दीक्षा देना तथा मण्डन मिश्र को संन्यास धारण कराना, भारतवर्ष में प्रचलित तत्कालीन कुरीतियों को दूर कर समभावदर्शी धर्म की पूर्व (ओडिशा) जगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ, पश्चिम द्वारिका में शारदामठ तथा बद्रिकाश्रम में ज्योतिपीठ भारत की एकात्मकता को आज भी दिग्दर्शित कर रहा है। कुछ लोग शृंगोरीको शारदापीठ तथा गुजरात के द्वारिका में मठ को काली मठ कहते हैं।

आधारभूत तत्त्व एवं सिद्धांत

शांकर अद्वैत दर्शन का आधारभूत तत्त्व है अद्वैत। सम्बन्धित सिद्धांत का निर्वचन निम्नानुसार है-

(1) ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या। जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः।

ब्रह्म ही जीव है, वही सकल जगत, भी है। जगत ब्रह्म से इतर कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, जो केवल अनुशासित तो ब्रह्म से हो, पर सत्ता-रूप में स्वतंत्र हो। जीव भी ब्रह्म से इतर कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। वह ब्रह्म ही है। उस परम सत्ता में अखंड स्थिति ही मोक्ष है। ब्रह्म अद्वितीय है।

परम सत्ता एक ही है। कोई अन्य परम सत्ता नहीं है। जीव और जगत मायिक सत्ता हैं, व्यावहारिक सत्ता हैं; परम सत्य के सापेक्ष ये मिथ्या हैं, माया हैं; इनकी अवस्थिति अनिर्वचनीय है (माया का यही अर्थ है कि वे हैं भी और नहीं भी हैं)। जगत तात्त्विक दृष्टि से सनातन भी है, परिवर्तनशील, संसरणशील, नाशवान भी। यही जगत की मायिकता है। जीव घट-घट में पृथक्-पृथक् भासित है और असीमित भी है, यह जीव की मायिकतामय स्थिति कही जा सकती है। इस प्रकार परम सत्य केवल ब्रह्म है। शेष अनिर्वचनीय हैं, मायिक हैं, मिथ्या हैं।

(2) सर्वव्याप्त परम सत्ता अवयव रहित है। अतः अव्यय है। उसका विनाश हो ही नहीं सकता। क्योंकि जो सर्वव्याप्त है, उसका विनाशकर्ता 'सर्व' से इतर कुछ क्या होगा? वह परम सत्य है।

(3) तब, असत् क्या है? जो विनाशशील है, अन्तवान है। इसीलिए जो परम सत्; परम यथार्थ नहीं है, वह स्वप्नलवत है, माया है। प्रकृति और विकृति सहित समस्त क्षेत्र असत् है। अंतःकरण की वृत्तियां, आत्मचैतन्य के आभास, आदि सब क्षेत्र हैं या क्षेत्र के धर्म हैं। समस्त क्षेत्र असत् है यानी परम सत् नहीं है। क्षेत्रज्ञ ही परम सत् है। यहाँ 'असत्' एक पारिभाषिक दार्शनिक पद है, जिसका अर्थ असत्य नहीं है, बल्कि जो परिवर्तनशील अतः नाशवान प्रतीत होता सत् है, वह परम सत्ता के समक्ष या सापेक्ष असत् है, भले वह उसका ही आभास है।

(4) ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो अनेक शरीर रूपी उपधियों से विभक्त दिख रहे क्षेत्रज्ञ हैं, वे समस्त उपाधियों के भेद से परे परम सत् के ही रूप हैं। यह शब्दातीत बोध है। सत्-असत् शब्दों की प्रतीति से वह बोध ग्रहण नहीं हो पाता।

(5) जगत कार्य है, ब्रह्म कारण है। कार्यरूप में जगत 'है', परंतु कारणरूप में वह 'नहीं है'। यही मायिक स्थिति है। जो अनिर्वचनीय है। परंतु प्रत्यक्ष अनुभूतिगम्य है। इसे ही कहा गया है- जगत की व्यावहारिक सत्ता है, ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है। जगत मिथ्या है यानी परम सत् नहीं है।

(6) ब्रह्म साध्य नहीं है। वह तो सदा सिद्ध है। उसकी अप्राप्ति अज्ञान, अविद्या, आत्मविस्मृति के कारण होती है। प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है। ज्ञान से उस प्राप्त की ही प्राप्ति होती है। सिद्ध की ही सिद्धि होती है। अर्थात् मात्र अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। तत्त्वतः न अज्ञान की उत्पत्ति है, न निरोध है, न उसका कोई बंधन है, न कोई बंधा हुआ है। परमार्थतः मुक्ति कोई सर्वथा नवीन प्राप्ति नहीं है। वह प्राप्त की ही प्राप्ति है। मिथ्यात्व का विलोप है। अज्ञान का नष्ट हो जाना है।

(7) अव्यक्ता प्रकृति, महत्-तत्त्व, समष्टि-अहंकार, पांच महाभूतों की तन्मात्राएं, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रिया, पांच इन्द्रियगोचर विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा 24 वां है मन। ये 24 तत्त्व हैं। इनकी व्यावहारिक सत्ता है। इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। परमार्थ की दृष्टि से ये असत् हैं, मायिक सत् हैं। ये क्षेत्र हैं। इनका क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही इनका अधिष्ठान है। ये ब्रह्म में अध्यस्त हैं। अध्यस्त के गुण अधिष्ठान में नहीं आते। व्यवहारतः ये गुण हैं, क्योंकि ये अध्यस्त में वस्तुतः हैं। परंतु परमार्थतः ये मायिक हैं, नाशवान हैं, परिवर्तनशील हैं, असत् हैं। इन्हें परम सत्य मान लेना ही बंधन है। बन्धन तत्त्वतः है नहीं। ब्रह्म में, आत्मा में कोई बंधन नहीं है। अतः बंधन मिथ्या है। बंधन का ज्ञान, बंधन की अनुभूति मिथ्या है क्योंकि वह वस्तुतः है नहीं। आत्मा को देखते ही बंधन अदृश्य हो जाता है। मिथ्या अनुभूति निवर्तित हो जाती है। मिथ्या ज्ञान निवर्तित हो जाता है। ब्रह्म में जगत की प्रतीति अध्यास है। आत्मा में या क्षेत्रज्ञ में क्षेत्र की प्रतीति अध्यास है।

(8) जगत ब्रह्म का विवर्त है। निज स्वरूप से च्युत हुए बिना जो कार्यरूप में भासित होता है, वह उस कार्य का विवर्त-कारण है। विवर्तित कार्य की अपने अधिष्ठान-रूप कारण से पृथक् सत्ता नहीं होती।

ब्रह्म में त्रिगुणात्मिक माया विवर्तित है। उसकी ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं है। माया इस अध्यस्त जगत का उपादान-कारण है।

सत्त्वप्रधान माया-उपाधि से सम्पन्न चैतन्य ही ईश्वर है। ईश्वर जगत के निमित्त कारण हैं। ईश्वर भी ब्रह्म में विवर्तित हैं। ईश्वर ब्रह्म का विवर्त हैं।

इस प्रकार जगत और ईश्वर दोनों ब्रह्म का विवर्त हैं। माया भी ब्रह्म का विवर्त है। इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। स्वतंत्र

सत्ता केवल ब्रह्म की है। ईश्वर, जीव, जगत और माया-इनकी व्यावहारिक सत्ता है।

स्थूल-सूक्ष्म समस्त प्रपंच कार्य हैं। माया इनका कारण है। जगत प्रपंच और माया-दोनों ब्रह्म में अध्यस्त हैं। माया रूपी कारण-और जगत रूपी कार्य दोनों ब्रह्म में अध्यस्त हैं। दोनों ब्रह्म का विवर्त हैं। परम सत्ता केवल ब्रह्म की है।

विशुद्ध सत्त्वमयी माया त्रिगुणात्मिका है। वह ईश्वर की उपाधि है। मलिन सत्त्वमयी माया भी त्रिगुणात्मिका है। वह जीव की उपाधि है। यह जो जीव की उपाधि है, वह ईश्वर की अपरा प्रकृति है जो अष्टधा है- शब्दादि पांच तन्मात्राएं, मन, बुद्धि, अहंकार। (गीता अध्याय 7, श्लोक 4 व 5)।

जो ईश्वर की उपाधि है, वह परा प्रकृति है। (गीता अध्याय 7, श्लोक 5)। सम्पूर्ण जगत उसके द्वारा ही धारण किया जाता है। वह भी त्रिगुणात्मिका है परंतु सत्त्वमयी है।

टिप्पणी:- अद्वैत दर्शन से द्वैतवाद, विशिष्ट-अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद और त्रैतवाद आदि भारतीय दर्शनों का तत्त्वतः कोई खंडन नहीं होता। यह वस्तुतः दृष्टि-विशेष है। सभी वेदमूलक दर्शनों में मूलभूत एकता है, मूलभूत समानता है। मूल दृष्टि एक ही है क्योंकि सभी का मौलिक, आधारभूत स्रोत-संदर्भ तो वेद ही हैं।

जगत, जीव, प्रकृति आदि तो प्रत्यक्ष ही हैं। इनके विषय में समस्त वेदमूलक भारतीय दर्शनों की आधारभूत दृष्टि, बोध और मान्यता एक ही है। इनसे निगमित नीति एवं सदाचार भी एक ही है। सभी के लिए धर्म का आधार एक ही है- धर्मशास्त्र। वे ही व्यवहार, नीति, मान्यताओं, वाद, संवाद, विधि, न्याय आदि का सर्वमान्य स्रोत हैं। इसीलिए भारत के व्यावहारिक जीवन में इससे कोई मूलभूत अंतर नहीं आता कि आप द्वैतवादी हैं या त्रैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी या द्वैताद्वैतवादी या अद्वैतवादी।

सारा अंतर शीर्षस्थानीय दार्शनिक दृष्टि का है। सूक्ष्म विवेक के स्तर के ये अंतर हैं। आपको जीव की परम सत्ता मान्य है या व्यावहारिक सत्ता मान्य है, इससे जीव के स्तर पर कोई तात्त्विक अंतर नहीं पड़ता। सारा अंतर आंतरिक प्रकाश का है, बोध-ज्योति का है। यह सब दृष्टा चित्त के स्तर का अंतर है। जो विरल दार्शनिक प्रज्ञा से सम्पन्न विभूतियों का स्तर है-यानी यह कि वे जीव और जगत को ब्रह्म रूप में देखकर आनन्द से पुलकित हो रहे हैं, उन्हें सर्वत्र ब्रह्म की चैतन्य ज्योति देखकर अखंड आनन्द की अनुभूति हो रही है या जगत को जगत एवं जीव को जीव रूप में देखना ही सम्यक् लग रहा है और परम सत्ता ब्रह्म के सतत स्मरण, ध्यान, कीर्तन से अखंड आनन्द की अनवरत अनुभूति हो रही है। बस, इतना सूक्ष्म अंतर है।

■ महर्षि दयानन्द-

भारत ऋषि-मुनियों की भूमि रही है। स्वामी दयानन्द भी इस धरा पर पैदा हुए जो अपनी अद्वितीय बुद्धि और ज्ञान के कारण इस कलयुग में भी ऋषि के नाम से विख्यात हुए। उनके जन्म के समय देश अंग्रेजों का गुलाम था, मूर्ति-पूजा जोरों पर थी, नारी को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, छुआछूत जोरों पर थी तथा देश अनेक अन्धविश्वासों से ग्रस्त था। स्वामी दयानन्द ने इन सभी बुराइयों को जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने इतना कार्य किया कि जिसकी गिनती नहीं की जा सकती।

महर्षि दयानन्द अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न विलक्षण महापुरुष थे, जिन्होंने भारत की करोड़ों वर्ष पुरानी वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार किया। युगपुरुष दयानन्द ने ईश्वर भक्ति एवं ब्रह्मचर्य शक्ति के द्वारा उपार्जित अपरिमित बल एवं मेधा से वैदिक धर्म के सूर्य को पुनः प्रकट किया। वे आर्यसमाज के छठे नियम में समस्त संकीर्णताओं का परित्याग करके संसार के प्राणिमात्र के कल्याण को अपना प्रमुख उद्देश्य घोषित करने वाले महामानव थे। अपने अमर ग्रन्थ **सत्यार्थप्रकाश** से वैचारिक क्रान्ति, **संस्कारविधि** से सुसंस्कृत मानव निर्माण एवं **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** से वेदों की सार्वभौमिकता, सर्वविद्यामयता एवं वैज्ञानिकता को तार्किक आधारशिला प्रदान करने वाले महान् आचार्य थे। दयानन्द की समग्र चतुर्दिक् विजय का उद्घोष था-वेद, सत्य एवं ब्रह्मचर्य। भयंकर एवं लोमहर्षक कष्ट उठाते हुए भी उन्होंने सत्य का परित्याग नहीं किया। बरेली में गर्जना करते हुए आचार्य ने कहा-“लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलैक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।” अत्यन्त दूरदर्शी ऋषि ने भारत की सम्पूर्ण उन्नति का मूल सूत्र देते हुए कहा-“एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है।” महर्षि के विचार एवं उनका आर्यसमाज ही सम्पूर्ण भारत एवं विश्व के कल्याण का प्रमुख आधार है।

स्वामी दयानन्द जी का जन्म गुजरात प्रांत के मोरवी राजयान्तर्गत (वर्तमान राजकोट जिला) टंकारा नामक ग्राम में भाद्रपद कृष्ण नवमी 1881 विक्रमी, तदनुसार सन् 1824 में हुआ। इनके पिताजी का नाम श्री कृष्ण लाल तिवारी और माता का नाम अमृतबेन था। ये एक औदीच्य ब्राह्मण थे। ये परम शिव भक्त थे। इसलिए इन्होंने बालक का नाम मूलशंकर रखा। इनके पिता ने बाल्यकाल में ही इन्हें यजुर्वेद आदि वेद शास्त्रों का अध्ययन एवं धार्मिक संस्कारों को स्वयं सिखाया। 8 वर्ष की आयु में इनका उपनयन संस्कार हुआ और इनके लिए एक योग्य शिक्षक की नियुक्ति की गई जो इन्हें इनके घर आकर पढ़ाया करता था। इनका बचपन बड़े ही वैभव में बीता क्योंकि इनके पिता उस समय तहसीलदार के पद पर थे। ये बहुत ही कुशाग्र बुद्धि थे। 14 वर्ष की आयु तक इन्होंने यजुर्वेद संहिता और व्याकरण के कुछ ग्रंथों का पारायण कर लिया था।

25 वर्ष की आयु में स्वामी पूर्णानन्द जी से संन्यास दीक्षा ली। उन्होंने इनका नाम दयानन्द सरस्वती रखा। स्वामी पूर्णानन्द से संन्यास आश्रम की मर्यादा के रक्षार्थ जिन नियमों और जप तपादि का उपदेश इन्हें दिया उसका ये विधिवत् पालन करने लगे।

अंग्रेजों के शासन काल में भी गुलाम भारतीयों के मन में चक्रवर्ती साम्राज्य व स्वराज्य शब्द जैसी भावनाओं का गौरव सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने जागृत किया। अपने प्रवचनों में धार्मिक, सामाजिक व आध्यात्मिक चर्चाओं के साथ-साथ स्वराज्य, स्वाधीनता के गौरव की चर्चा करने का श्रेय गुलाम भारत में सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द को जाता है। 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की नींव महर्षि दयानन्द जी ने डाली है। इसके पश्चात् क्रान्तिकारियों एवं महात्मा गाँधी जी की आजादी की लड़ाई में महर्षि दयानन्द के शिष्यों की अहम् भूमिका रही है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती को वेदोद्धारक, समाज सुधारक एवं स्वराज के प्रबल समर्थक के रूप में तो अधिकांश लोग जानते हैं परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को बहुत कम लोग जानते हैं। वैसे तो महर्षि दयानन्द जी का अपना कोई नया मत, पंथ या सम्प्रदाय नहीं है। वे वेद व ऋषियों को ही प्रमाण मानते थे फिर भी महर्षि दयानन्द के वैदिक दर्शन को हम सात सिद्धान्तों के रूप में रख रहे हैं। योग एवं अध्यात्म के नाम पर बहुत प्रकार की भ्रान्तियाँ आज भी समाज में इसलिए फैली हैं क्योंकि लोगों को वेदों व ऋषियों के मूल सिद्धान्तों का बोध न होने के कारण जो संस्कृत में लिखा मिल गया उसे ही संस्कृति मान लिया तथा तर्क तथ्य, युक्ति प्रमाण व विज्ञान के बिना मात्र मान्यताओं एवं अवैज्ञानिक परम्पराओं को धर्म-अध्यात्म व योग के रूप में स्वीकार कर लिया। जबकि वेद एवं वैदिक यथार्थ संस्कृति का प्रत्येक पहलु सार्वभौमिकता वैज्ञानिकता व पंथ निरपेक्षता में सिद्धान्त पर खरा उतारता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तों के सात सूत्र हम क्रमशः यहा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

पहला सिद्धान्त— महर्षि दयानन्द सरस्वती योग एवं आध्यात्मिक दृष्टि से आर्ष योग के प्रबल समर्थक थे तथा हठयोग की क्रियाओं को केवल मात्र शारीरिक शुद्धि व स्वास्थ्य के लिए ही उपयोगी मानते थे। महर्षि दयानन्द एवं वैदिक परम्परा के सभी प्राचीन ऋषि मुनि इस सन्दर्भ में एकमत हैं कि आसन, क्रियाएं, मुद्राएं एवं प्राणायाम, ये योग की आधारशिला तैयार करते हैं। योग का यह प्रथम चरण है। मिथ्या ज्ञान, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पंचक्लेशों, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार रूप पाँच विकारों एवं पंच वत्तवृत्तियों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप की उपलब्धि, आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार ही योग का मुख्य व अन्तिम लक्ष्य है। मात्र हठयोग की क्रियाओं से हम अपने विकारों या दोषों को तनु, दग्धबीज या निर्बीज नहीं कर सकते, अष्टाङ्ग योग, क्रिया योग, विवेक वैराग्य एवं अखण्ड साधना के बिना मात्र हठयोग से समाधि, बुद्धत्व संबोधि या निर्बीज समाधि, निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ध्यान के लिए ओंकार व गायत्री का जप सर्वश्रेष्ठ है। समष्टि को भगवान् के ऐश्वर्य या महिमा के रूप में अनुभव करके अन्ततः ब्रह्म के अमूर्त, निराकार स्वरूप तक हमें पहुँचना है। योग का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म के एकत्व में समाहित होकर ब्रह्म का प्रतिरूप या प्रतिनिधि होना है। ईश्वरीय अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सामर्थ्य से योगी युक्त होकर भागवत सत्ता का प्रतिनिधि या यन्त्र बनकर भागवत कर्म करता हुआ भागवत जीवन या दिव्य-जीवन जीता है। योगी का पूरा अस्तित्व दिव्य होता है। महर्षि दयानन्द दिव्यज्ञान, दिव्यकर्म, दिव्यआचरण, दिव्यसुख, शान्ति एवं दिव्यसमृद्धि से युक्त दिव्यजीवन की प्रप्ति का उपाय महर्षि पतंजलि प्रणीत योग मार्ग को ही मानते हैं।

दूसरा सिद्धान्त— महर्षि दयानन्द जी की वैदिक ऋषियों के अनुरूप प्रबल मान्यता यह थी कि योगी को कर्म का विरोधी नहीं होना चाहिए। मिथ्या ज्ञान के कारण राग-द्वेष युक्त कर्म या प्रवृत्ति ही, जन्म व दुःख का कारण है। विवेकपूर्ण अनासक्त, निष्काम-कर्म योगी को भी करने चाहिए। यही हमारे पूर्वजों व ऋषियों का सिद्धान्त व दर्शन है तथा ऐसा ही उनका जीवन था।

तीसरा सिद्धान्त— महर्षि का आध्यात्मिक दृष्टिकोण था कि यह जगत् या माया निन्दनीय नहीं है, यह तो भगवान् की रचना है और जैसे भगवान् पूर्ण पवित्र व सुख शान्तिमय है, वैसे ही भगवान् की रचना भी पूर्ण व पवित्र है, यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् की महिमा प्रत्यक्ष रूप है, इसके पीछे अप्रत्यक्ष, अमूर्त, अव्यक्त रूप में भगवान् के ही ऋत नियम कार्य कर रहे हैं। इस जगत का वेदाज्ञा, शास्त्राज्ञा, गुरु आज्ञा एवं ईश्वरीय दिव्य प्रेरणा के अनुरूप या विवेक व वैराग्य पूर्वक उपयोग करो, यह साधन रूप है। माया रूप इस पिण्ड व ब्रह्माण्ड को जीवों के अभ्युदय व निःश्रेयस हेतु भगवान् की दिव्य रचना रूपी साधन बनाकर हमें ब्रह्म को पाकर उसके साथ एकाकार होना है। यही हमारा अन्तिम साध्य है।

चौथा सिद्धान्त— महर्षि दयानन्द सार्वभौमिक, वैज्ञानिक व पंथनिरपेक्षता के आधार तर्क, तथ्य, युक्ति, प्रमाण एवं सृष्टि सिद्धान्त की कसौटी पर जो खरा उतरे उसी को धर्म, अध्यात्म एवं योग मानते थे तथा वेद एवं वेदानुकूल वैज्ञानिक सिद्धान्तों को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करते थे। छूआ-छूत, ढोंग, आडम्बर, अंधविश्वास, जाति, वर्ग, मजहब, लिङ्गभेद, रंगभेद, पाखण्ड, छल, कपट एवं मत पंथ आदि के आग्रहों से सर्वदा मुक्त थे। वे सब मनुष्यों को ईश्वर की सन्तान मानते थे तथा भगवान् के संकल्प का परिणाम पूरी सृष्टि, के प्रति एक दिव्यभाव रखते थे, जबकि आज के समय जो कुछ धर्म, योग एवं अध्यात्म के नाम पर चल रहा है वह अधिकांश पाखण्ड है। वेद व ऋषियों के सिद्धान्त पर खरा नहीं उतरता।

अपने मत पंथ सम्प्रदायों एवं शिष्य मण्डली के बढ़ाने के चक्कर में मूल वैदिक ऋषि परम्परा का अनादर हो रहा है।

पाँचवा सिद्धान्त— महर्षि दयानन्द सरस्वती ज्ञान, कर्म एवं भक्ति को पृथक् मार्ग न मानकर तीनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार करते थे। शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म एवं शुद्ध उपासना या भक्ति यह अध्यात्म की त्रिवेणी मानते थे। बिना ज्ञान व बिना कर्म के भक्ति मात्र एक आडम्बर बन जाती है और ऐसी भक्ति हमें मुक्ति में न ले जाकर बंधन में ही फंसाती है। इस प्रकार बिना भक्ति के केवल ज्ञान व केवल कर्म भी मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। अतः ज्ञान पूर्वक कृति व भक्ति ही मुक्ति की युक्ति है।

छठा सिद्धान्त— आध्यात्मिक मान्यताओं को लेकर एक बहुत बड़ा विवाद है, द्वैतवाद, अद्वैतवाद एवं विशिष्ट अद्वैतवाद आदि गंभीर अनसुलझी जटिलताओं से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बाहर निकाला और त्रैतवाद एवं आध्यात्मिक एकत्व का वैदिक व वैज्ञानिक स्पष्ट दर्शन व सिद्धान्त हमें बताया।

सृष्टि में तीन अनादि तत्त्व हैं ईश्वर, जीव व प्रकृति। ईश्वर सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सृष्टि का उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय कर्ता है। सब जीवों की कर्मफल व्यवस्था करने वाला व न्यायकारी है। जीव सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक व सृष्टि का कर्ता नहीं हो सकता है, जीव शुद्ध, बुद्ध, आनन्दमय व शान्तिमय है तथा योगसाधना व समाधि से ईश्वर के सामर्थ्य से युक्त होकर दिव्य शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। जीव के दो स्तर हैं— एक सशरीर जो सुख दुःख व राग द्वेष आदि को अनुभव करता है; दूसरा मुक्त जीव आत्मा जो इन सब से मुक्त होकर प्रभु के पूर्ण आनन्द से युक्त हो जाता है।

कारण रूप प्रकृति को भगवान् अपने दिव्य सामर्थ्य से कार्य रूप में जब जीवों के सुख के लिए परिवर्तित करता है। कार्यरूप प्रकृति अनित्य या परिवर्तनशील है, कारणरूप प्रकृति शाश्वत है। ये तीन शाश्वत सत्य हैं। जो जीवात्मा योगाभ्यास करता है, वह भगवान् के ऐश्वर्य को ही पिण्ड-ब्रह्माण्ड में नाना रूपों या बहुत्व में अनुभव करता हुआ भी एक ही परमेश्वर की मूर्त-अमूर्त महिमा को या ईश्वर के एकत्व को सर्वत्र अनुभव करता है यही आध्यात्मिक एकत्व का दर्शन है अर्थात् तीन अनादि सत्यों में ब्रह्म सबसे बड़ा सत्य है। ब्रह्म अर्थ परमात्मा के ही प्रकाश से सब जीव और सह जगत् सब प्रकाशित हैं। सबका मूल अधिष्ठान ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही सबका मूल आधार है, यही ब्रह्म का एकत्व

है।

सातवाँ आध्यात्मिक राष्ट्रवाद- महर्षि दयानन्द सरस्वती हमारे पूर्वज वैदिक ऋषि-ऋषिकाओं की तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एकत्व एवं सहअस्तित्व के सिद्धान्त में पूर्णनिष्ठा रखते हुए भी भारत सहित सभी राष्ट्रों की एकता, अखण्डता एवं संप्रभुता के साथ न्याय, समता, समरसता व समानता मूलक सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था में विश्वास रखते थे। सभी में एक ईश्वरीय तत्त्व को अनुभव करते हुए तथा सह अस्तित्व के सिद्धान्त के अनुरूप सबके प्रति अत्यन्त मैत्री व करुणा का भाव रखते थे, लेकिन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनैतिक अन्याय, अधर्म व शोषण का प्रबल विरोध भी करते थे। महर्षि दयानन्द सत्य के प्रति अत्यन्त आग्रहवान् थे वह सत्य चाहे किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित हो, वे मानते थे कि योगी व संन्यासी को तो किसी भी कीमत पर सत्य का त्याग व असत्य का स्वीकार नहीं करना चाहिए। अतः परतंत्र भारत में भी स्वराज्य एवं भारत के चक्रवर्ती साम्राज्य का संकल्प उनके हृदय में था।

महर्षि दयानन्द का ज्ञान जीवन व आचरण एक पूर्ण योगी पुरुष का था। ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग की त्रिवेणी का उनमें मूर्तरूप में दर्शन होता था। आप्तपुरुषों, सिद्धों व ऋषियों के पूर्णरूप या प्रत्यक्ष रूप का उनमें दर्शन होता था। वे जीते हुए जीवन मुक्त थे, पूर्णतः अनासक्त, निष्काम कर्मयोगी, आप्तकाम, आत्मकाम या अकाम थे तथा जगत से प्रयाण करते हुए भी उन्होंने जब देखा कि अब शरीर यात्रा पूरी हो चुकी है तो ध्यान समाधि लगाकर ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना मंत्रों का उच्चारण करते हुए ओम् के उद्घोष पूर्वक स्वेच्छा से देह का त्याग किया वे मृत्युंजयी योगी थे।

ऋषि दयानन्द ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के उद्धार तथा मानवता के हित चिन्तन में लगाया था।

■ श्री अरविन्द -

कभी-कभी इस धरती पर ऐसे महापुरुष अवतरित होते हैं जो अपने पीछे अमित छाप छोड़ जाते हैं। आधुनिक भारत के नवजागरण के उषा काल में ऐसे ही एक पुष्प ने विकसित होकर अपनी सुगन्ध से न केवल भारत वर्ष को, अपितु सारे विश्व को सुगन्धित कर दिया। वह पुष्प था-अरविन्द जिन्होंने सम्पन्न होते हुए भी जीवन भर एक ऋषि जैसा जीवन बिताया और अपने प्रयत्नों से भारत के खोए हुए वैभव को फिर से लौटाने का सराहनीय कार्य किया। उनकी तपस्थली पाण्डिचेरी भारतीय संस्कृति का एक महान स्मारक है।

श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कोलकाता में हुआ। उनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष एक जाने माने चिकित्सक थे और वे चाहते थे कि उनकी तरह अरविन्द भी अंग्रेजी आदर्शों को अपनाएँ और बड़ा अफसर बने। इसलिए उनकी शिक्षा-दीक्षा शुरू से ही अंग्रेजी के मिशन स्कूल में हुई। बाद में उन्हें 7 साल की उम्र में ही इंग्लैण्ड भेज दिया गया। वहीं उनकी उच्चशिक्षा हुई। वे आई.सी.एस. की परीक्षा में बैठे और उसमें उत्तीर्ण हो गए। लेकिन सरकारी सेवा में सम्मान न होने कारण जान-बूझकर घुड़सवारी की परीक्षा न दे सकने के कारण अपने आप को अनुत्तीर्ण करा दिया। उन्होंने दिखला दिया कि एक सच्चा भारतीय उच्च विदेशी सर्विस को कितना तुच्छ समझता है। आई.सी.एस. का परित्याग करना वास्तव में एक महान् त्याग था। भौतिक वैभव पर उनकी यह पहली विजय थी।

इंग्लैण्ड में रहते-रहते श्री अरविन्द ने निश्चय कर लिया था कि वे अपना जीवन देशसेवा में लगाएंगे और देश की स्वाधीनता के लिए काम करेंगे। 14 साल के बाद वे इंग्लैण्ड से भारत लौटे। 13 साल तक वे बड़ौदा कालेज में अंग्रेजी व फ्रेंच के प्रोफेसर रहे। बाद में इसके प्राधानाचार्य भी बनें। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत और बंगला भाषा का अध्ययन किया।

अप्रैल सन् 1901 में श्री अरविन्द का मृणालिनी देवी नामक सुन्दर बंगाली कन्या से विवाह हुआ। भारत आने के बाद उन्होंने देश की आजादी के लिए बहुत कार्य किया वे स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी बनकर रहे। देश को गुलामी से मुक्त कराना उनका मुख्य उद्देश्य हो गया था। इतना सब करते हुए भी वे अध्ययन करते रहते थे, और धार्मिक ग्रंथों को पढ़ते रहते थे। सन् 1903 में भी श्री अरविन्द काशी गये वहाँ सुलेमान नामक स्थान पर शंकराचार्य नामक पहाड़ी

पर इन्हें अनन्त ब्रह्म की अनुभूति हुई। इस घटना से सिद्ध होता है कि श्री अरविन्द का आध्यात्मिक विकास स्वतः ही हुआ था। उनके पूर्वजन्म के संस्कार भी आध्यात्मिकता के ही थे। 1904 में भी वे योगाभ्यास करते रहे। 1908 में बड़ौदा में श्री अरविन्द की भेंट विष्णु भास्कर लेले नामक महाराष्ट्रीयन योगी से हुआ। लेले की शिक्षा के अनुसार श्री अरविन्द अपने मन को शान्त करने में सफल हुए और देश काल की सीमा से परे उन्हें ब्रह्म की अनुभूति हुई।

श्री अरविन्द ने देश को स्वतन्त्र कराने में बड़ा काम किया। इसके लिए उन्होंने पत्र निकाले। अनेकानेक समाचार पत्रों में लेख लिखे। अनेकों पुस्तकें लिखीं जिनसे अनेक युवक प्रभावित हुए। बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन का संचालन किया। वन्देमातरम् का गौरव बढ़ाया। श्री अरविन्द ने वन्देमातरम् के नारे में एक ऐसी शक्ति भर दी कि विदेशी सरकार का एक-एक आदमी उससे भड़क उठता था। श्री अरविन्द ने भारत को माँ की संज्ञा दी जो दासता की बेड़ियों से जकड़ी हुई थी। श्री अरविन्द के तीन पागलपन बहुत प्रसिद्ध हैं जो उन्होंने पत्र के माध्यम से अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे थे। उन्होंने सबसे पहला धर्म भारत माँ को आजाद कराने का समझा और इसके लिए हर कुर्बानी दी। देश के स्वतन्त्रता संग्राम में उनका बड़ा योगदान रहा और संयोग की बात है देश को आजादी भी उनके जन्मदिन के ही दिन 15 अगस्त को मिली।

जिस तीव्रता से अरविन्द राजनैतिक मंच पर छाए, वैसे ही 1910 में उन्होंने राजनीति से संन्यास ले लिया और संन्यास लेकर आध्यात्मिकता का मार्ग खोजने के लिए पांडिचेरी के लिए रवाना हो गए और जीवन पर्यन्त यहीं रहे। वे रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती से अत्यधिक प्रभावित हुए। वे भारत की खोई हुई आध्यात्मिक संस्कृति को फिर से प्रस्थापित करना चाहते थे। उनका मानना था कि वैदिक संस्कृति सर्वोपरि है। इसका प्रचार-प्रसार वे आखिर तक करते रहे। वेदों की अपने ढंग से व्याख्या की। गीता का अनुवाद किया। अपनी पुरानी वैदिक परम्परा के अनुसार उन्होंने पांडिचेरी में आश्रम की स्थापना की। उसी आश्रम में उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्री माँ जो फ्रांस की रहने वाली थीं, ने पदार्पण किया। आखिर तक वह उनके साथ रही और उनके निर्वाण बाद भी आश्रम की पूरी जिम्मेदारी के साथ सेवा करती रही।

5 मई सन् 1908 को श्री अरविन्द को विद्रोही रूप में अंग्रेजों ने पकड़ लिया और इन्हें अलीपुर जेल में बंद कर दिया वहां पर वे 6 मई, 1909 तक रहे। जेल में रहते हुए भी श्री अरविन्द ने अपना समय गीता, उपनिषद आदि आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन में बिताया साथ ही ध्यान और योगाभ्यास भी किया। वहीं पर इन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ। इन्हें समस्त वस्तुओं में ब्रह्म की अनुभूति हुई और सभी वस्तुएं दिव्य रूप में दिखाई दीं। इस अवसर पर श्री अरविन्द को एक महान् आध्यात्मिक लक्ष्य को पूरा करने की भी आन्तरिक प्रेरणा मिली। जिसे वे भागवत् आज्ञा मानते थे। अलीपुर जेल में छूटने के पश्चात् श्री अरविन्द ने अपने जीवन को आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर लगाना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे राजनैतिक जीवन से दूर हटते चले गये। इससे कुछ लोगों ने यह भी कहा कि श्री अरविन्द ने राजनैतिक जीवन में आने वाली कठिनाइयों को देखकर राजनैतिक जीवन से संन्यास ले लिया है। किन्तु इन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया बल्कि कुछ समय पश्चात् इन्होंने राजनैतिक जीवन को पूर्ण रूप से ही छोड़ दिया।

श्रीअरविन्द की शिक्षा भारत के प्राचीन ऋषियों की इस शिक्षा से आरम्भ होती है कि विश्व-ब्रह्माण्ड के इस दिखायी देने वाले रूप के पीछे एक 'सत्ता' और 'चेतना' का 'सत्य-स्वरूप' है, सब वस्तुओं की एक अद्वितीय और शाश्वत 'आत्मा' है। सभी सत्ताएँ उस 'एक आत्मा' के अन्दर युक्त हैं, परन्तु चेतना की एक प्रकार की पृथक्ता के कारण, मन, प्राण और शरीर में अपनी सच्ची 'आत्मा' और 'सत्य-स्वरूप' के विषय का ज्ञान न होने के कारण विभक्त है। परन्तु एक मनोवैज्ञानिक साधना के द्वारा भेदात्मक चेतना के इस पर्दे को दूर किया जा सकता है और अपने सच्चे 'आत्म-स्वरूप' को, अपने अन्दर तथा सबके अन्दर विद्यमान 'भगवत्ता' को जाना जा सकता है।

श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य— पूर्ण रूपान्तरण है—शरीर का, इन्द्रियों का, मन की माँगों का प्राण की माँगों का, भौतिक और सूक्ष्म अस्तित्व के एक-एक अणु कोषाणु का आमूल-चूल परिवर्तन। वे केवल आत्मसाक्षात्कार करके समाधि प्राप्त करना इतना ही योग का उद्देश्य नहीं मानते थे अपितु समाधि में प्राप्त विवेक ज्ञान को प्रत्येक कार्य में और जीवन के प्रतिपल में उस विवेकानुसार जीवन को जीना अर्थात् अकाम-निष्काम आत्मकाम और आप्तकाम की

अवस्था को प्राप्त करके दिव्यकर्म करते हुए जीवन का प्रत्येक पल भगवान् का यन्त्र बनकर, उस शाश्वत का प्रतिनिधि, माध्यम बनकर जीवन को जीना, उस परम दिव्य चेतना को इस धरती पर अपने स्थूल शरीर व स्थूल कर्मों तक उतार लाना, यह है श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य। व्यक्ति स्वयं आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त करके सुखी हो जाये, इतना ही पर्याप्त नहीं मानते थे, अपितु Self Realization से Calactive Realization की बात वे करते हैं। चूँकि मैं तो सुखी समृद्ध व शान्त हूँ लेकिन मेरा रिश्तेदार, पड़ोसी या मित्र यदि पेशान है तो उसकी परेशानी का प्रभाव मुझे भी दुःख ही देगा, इसलिए अच्छा है उन सभी को सुखी-समृद्ध, शान्त व योगी बनाने का प्रयास किया जाये।

और उस योग को सिद्ध करने के लिए श्री अरविन्द ने चार साधन माने हैं- काल, गुरु, शास्त्र और उत्साह। योग के लिए वांछित पर्याप्त काल देना ही होता है, अनुभवी समर्थ गुरु की, (जो स्वयं इस मार्ग पर चलकर इस अवस्था को प्राप्त कर चुका) भी अहम् भूमिका है। साक्षात् ऐसा गुरु न मिले तो शास्त्र परोक्ष रूप से गुरु का कार्य ही करते हैं और इन सब साधनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है व्यक्ति का अपना उत्साह। यदि उत्साह नहीं है तो उपरोक्त तीनों साधन व्यर्थ हो जाते हैं। इसी बात को उन्होंने अन्यत्र कहा अभीप्सा, त्याग व समर्पण। श्री अरविन्द का मानना है कि मोक्ष, ब्रह्म या किसी भी शुभ के लिए अभीप्सा और उत्साह तो हमारा ही होना चाहिये, बाकी जो कुछ भी हमारी सामर्थ्य से बाहर है वह सब भागवत कृपा से हमें उपलब्ध करा दिया जाता है, लेकिन यदि कोई सोचे कि मेरे लिए तो अभीप्सा भी स्वयं भगवान् ही कर दें, तो ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। जितनी तीव्रतम अभीप्सा होगी, कृपा भी उतनी ही निकटतम होगी। त्याग का तात्पर्य है उस समस्त अशुभ का परित्याग जो भगवद् प्राप्ति में बाधक है, शरीर, क्रिया, मन, प्राण, विचार, संसार की प्रत्येक आसक्ति, सम्बन्ध, अभिरुचि प्रत्येक स्तर पर समस्त अशुभ का त्याग। तीसरा है समर्पण- अपना सर्वस्व उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित करके, अपनी व्यक्तिगत एक भी चाहत या इच्छा रखे बिना, गुरुसत्ता और भागवतसत्ता पर पूर्ण विश्वास करके, उसी की इच्छा में अपनी इच्छा को मिलाना यह है श्री अरविन्द के योग का आध्यात्मिक लक्ष्य।

श्री अरविन्द का मानना है कि पूर्ण विशुद्ध, निश्चल, निर्मल, निष्काम प्रेम में ही वह सामर्थ्य है जो व्यक्ति का पूर्ण रूपान्तरण कर सके। इस युग के इस महान् योगी ने अपने जीवन में भारतमाता व भगवतीमाता की सेवा करते हुए लाखों अन्धेरी जिन्दगियों को प्रकाश प्रदान करके 5 दिसम्बर, 1950 को महानिर्वाण या महासमाधि को प्राप्त किया। तथा आज भी उनके आध्यात्मिक सिद्धान्त प्रकाश स्तम्भ के रूप में इस मार्ग के पथिकों का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

■ स्वामी विवेकानन्द-

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, सन् 1863 (विद्वानों के अनुसार मकर संक्रान्ति संवत् 1920) को कलकत्ता में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। उनके बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ दत्त था। पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के एक प्रसिद्ध वकील थे। विश्वनाथ दत्त पाश्चात्य सभ्यता में विश्वास रखते थे। वे अपने पुत्र नरेन्द्र को भी अंग्रेजी पढ़ाकर पाश्चात्य सभ्यता के ढर्रे पर चलाना चाहते थे। परन्तु उनकी माता भुवनेश्वरी देवी धार्मिक विचारों की महिला थी। उनका अधिकांश समय भगवान् शिव की पूजा-अर्चना में व्यतीत होता था। नरेन्द्र की बुद्धि बचपन से ही बड़ी तीव्र थी और परमात्मा को पाने की लालसा भी प्रबल थी। इस हेतु वे पहले ब्रह्म समाज में गये परन्तु वहाँ उनके चित्त को सन्तोष नहीं हुआ। वे वेदान्त और योग को पश्चिम संस्कृति में प्रचलित करने के लिए महत्वपूर्ण योगदान देना चाहते थे।

दैवयोग से विश्वनाथ दत्त की मृत्यु हो गई। घर का भार नरेन्द्र पर आ पड़ा। घर की दशा बहुत खराब थी। अत्यन्त दरिद्रता में भी नरेन्द्र बड़े अतिथि-सेवी थे। वे स्वयं भूखे रहकर अतिथि को भोजन कराते स्वयं बाहर वर्षा में रात भर भीगते-ठिठुरते पड़े रहते और अतिथि को अपने बिस्तर पर सुला देते।

स्वामी विवेकानन्द अपना जीवन अपने गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस को समर्पित कर चुके थे। उनके गुरुदेव का शरीर अत्यन्त रुग्ण हो गया था। गुरुदेव के शरीर-त्याग के दिनों में अपने घर और कुटुम्ब की नाजुक हालत व स्वयं के भोजन की चिन्ता किये बिना वे गुरु की सेवा में सतत संलग्न रहे।

विवेकानन्द बड़े स्वप्नदृष्टा थे। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें धर्म या जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद न रहे। उन्होंने वेदान्त के सिद्धान्तों को इसी रूप में रखा। अध्यात्मवाद बनाम भौतिकवाद के विवाद

में पड़े बिना भी यह कहा जा सकता है कि समता के सिद्धान्त का जो आधार विवेकानन्द ने दिया उससे सबल बौद्धिक आधार शायद ही ढूँढा जा सके। विवेकानन्द को युवकों से बड़ी आशाएँ थी। आज के युवकों के लिये इस ओजस्वी संन्यासी का जीवन एक आदर्श है।

उन्तालीस वर्ष के संक्षिप्त जीवनकाल में स्वामी विवेकानन्द जो काम कर गये वे आने वाले अनेक शताब्दियों तक पीढ़ियों का मार्गदर्शन करते रहेंगे।

तीस वर्ष की आयु में स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो, अमेरिका के विश्व धर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व किया और उसे सार्वभौमिक पहचान दिलवायी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था— “यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानन्द को पढ़िये। उनमें आप सब कुछ सकारात्मक ही पायेंगे, नकारात्मक कुछ भी नहीं।”

संन्यासियों के पास कोई जमीन-जायदाद या संपत्ति नहीं होतीं वे लोग विवाह नहीं करते। उन लोगों की कोई संस्था नहीं होती। उन लोगों का एकमात्र बंधन गुरु-शिष्य का बंधन होता है। यह बंधन भारतवर्ष की अन्यतम विशेषता है। जो लोग सिर्फ शिक्षा-दान के लिए आते हैं और उस शिक्षा के लिए थोड़ा-बहुत मूल्य देकर जिनसे संबंध खत्म हो जाता है, वे लोग असली और सच्चे शिक्षक नहीं होते। भारतवर्ष में वास्तविक अर्थ में यह दत्तक ग्रहण करने जैसा है। शिक्षा-प्रदाता गुरु मेरे लिए पिता से भी बढ़कर हैं, मैं उनकी संतान हूँ। हर तरह से मैं उनकी संतान हूँ। पिता से भी पहले मैं उनके प्रति श्रद्धा रखूँगा और उनकी प्राथमिकता स्वीकार करूँगा; क्योंकि भारत के लोगों का कहना है कि पिता ने मुझे जन्म दिया है। मगर गुरु ने मुझे मुक्ति का पथ दिखाया है। इसलिए गुरु पिता से भी अधिक महान् है। हम सब आजीवन अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और प्रेम पोषण करते हैं। गुरु-शिष्य के बीच यहीं संबंध विद्यमान रहता है। मैं भी अपने शिष्यों को दत्तक के रूप में ग्रहण करता हूँ। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गुरु तरुण होता है और शिष्य कोई वयोवृद्ध।

बालक नरेन्द्र के हृदय में साधुओं के प्रति एक विशेष प्रकार की आसक्ति थी। उनके द्वारा जब भी कोई साधु उपस्थित होता, वे फूले न समाते और कुछ न कुछ अवश्य उसे दे देते। एक दिन वे बाहर खड़े थे। उसी समय एक साधु आया। नरेन्द्र एक नयी धोती पहने हुए थे। उन्होंने तुरन्त ही उसे खोल कर साधु को भेंट कर दी। साधु ने उसे अपने सर पर बांध लिया और आगे बढ़ गया। पूछने पर नरेन्द्र ने कहा— ‘साधु ने भिक्षा मांगी, अतः मैंने उसे अपना कपड़ा दे दिया।’ अब जब भी कोई साधु-संत द्वार पर आता, नरेन्द्र को कमरे में बन्द कर दिया जाता। परन्तु इससे क्या हुआ? कमरे की एक-एक चीज वे खिड़की से बाहर उस साधु को भेंट स्वरूप फेंकते जाते।

इस प्रकार एकाग्रचित होकर ध्यानमग्न हो जाना नरेन्द्र का सबसे प्रिय खेल था। वे अक्सर इस प्रकार ध्यानमग्न होने का खेल अपने मित्रों के साथ खेला करते। अन्य बच्चों के लिए तो यह निरा खेल ही था। किन्तु नरेन्द्र का हृदय इससे आध्यात्मिक भावना के प्रकाश से आलोकित हो जाता।

स्वामी विवेकानन्द शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त दर्शन के उपासक थे। शंकराचार्य की ही भाँति उनका जीवन भी अद्वितीय कर्मठता, सतत भ्रमण, आध्यात्मिक संगठन, समाज-चिंतन और ज्ञान-प्रवर्तन में लगा। परंतु मत या विचार के नाम निर्देश से कभी कुछ पता नहीं चलता। व्याख्याता शिष्य या अनुयायी की पात्रता, सामर्थ्य, वीर्य, वीरता, ओजस, विद्या और विवेक पर सब कुछ निर्भर है। पंथों या आचार्यों के आधार पर किसी प्राणवान प्रतिभा और किसी मूढ़ प्रतिमा जैसे अनुयायियों के बीच का अंतर समझा नहीं जा सकता। भारतीय ज्ञान-परम्परा में इसीलिए केवल सम्प्रदाय का उल्लेख सम्पूर्ण पहचान नहीं माना जाता। साधक या सिद्ध के पुरुषार्थ का स्वरूप-निर्दर्शन आवश्यक माना जाता है। साधक या सिद्ध ने वस्तुतः क्या किया, क्या प्रकाश पाया अनुभव किया और किन रूपों में उसे वितरित किया, वितरित ज्ञान का स्तर, भाषा, शिल्प सामर्थ्य, प्रभाव-सामर्थ्य- यह सभी कुछ महत्वपूर्ण है। सब मिलाकर किसी विभूति की पहचान संकेतित की जा सकती है। मत-सम्प्रदाय के नामोल्लेख से कुछ भी ज्ञात नहीं होता। अतः स्वामी विवेकानन्द अद्वैत दर्शन को मानते थे, यह अति सामान्य कथन है। इसके विशेष अर्थों को समझना होगा, जो अलग-अलग विषयों पर उनके विचारों और कथनों से तथा उनके आचरण से ज्ञात होंगे।

राजयोग के अपने व्याख्यान में स्वामी विवेकानन्द ने दर्शन के विषयों को विस्तार से समझाया। उसकी भूमिका में वे लिखते हैं—

“भारतवर्ष में जितने वेदमतानुसारी दर्शनशास्त्र हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है—पूर्णता प्राप्त करके आत्मा को मुक्त कर लेना। इसका उपाय है योग। ‘योग’ शब्द बहुभावव्यापी है। सांख्य और वेदान्त उभय मत किसी न किसी प्रकार के योग का समर्थन करते हैं।”

सारा जगत दो पदार्थों से निर्मित है। आकाश और प्राण। यह प्राण ही स्नायविक शक्ति-प्रवाह के रूप में, विचार-शक्ति के रूप में और समुदय दैहिक क्रिया के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इस प्राण के यथार्थ तत्त्व को जानना और उसे संयत करना ही प्राणायाम है। प्राणायाम में सिद्ध होने पर हमारे लिए मानो अनन्त शक्ति का द्वार खुल जाता है। जिन्होंने प्राण को पकड़ा है, उन्होंने संसार में जितनी शारीरिक या मानसिक शक्तियाँ हैं, सबको पकड़ लिया है। प्राण ही सारी शक्तियों की सामान्यीकृत अभिव्यक्ति है।

“जगत को हिला डुला देने वाले तीव्र इच्छाशक्ति सम्पन्न महापुरुष अपने प्राण को कम्पन की एक उच्च स्थिति में ला सकते हैं। यह प्राण इतना महान तथा शक्तिशाली होता है कि हजारों मनुष्य उनकी ओर खिंच जाते हैं और उनके भाव से परिचालित हो जाते हैं।”

राजयोग के सप्तम अध्याय में स्वामी विवेकानन्द ने समझाया है कि यदि चित्तशुद्धि के साथ समाधि न हो तो अतीन्द्रिय ज्ञान के साथ अंधविश्वास मिल जाता है। क्योंकि कोई महापुरुष समाधि की ज्ञानातीत अवस्था में अचानक जा पड़ता है। वहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान पाता है। पर पूरी प्रक्रिया के प्रति सचेत नहीं होने से सामान्य चित्त-दशा में ग्रहीत अज्ञान और अंधविश्वास उस अतीन्द्रिय ज्ञान में घुल मिल जाते हैं।

‘कर्मयोग’ में वे कहते हैं- “प्रकृति सत्व, रज तथा तम- इन तीन शक्तियों से निर्मित है। भौतिक जगत में इनकी अभिव्यक्ति साम्यावस्था, क्रियाशीलता तथा जड़ता के रूप में दिखाई पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति में ये तीन शक्तियाँ होती हैं। कभी तमोगुण प्रबल होता है, कभी रजोगुण, कभी सत्व।

स्पष्ट है कि कर्मयोग के लिए भी ज्ञानयोग और राजयोग दोनों आवश्यक हैं। इसे समझाते हुए स्वामी जी कहते हैं- भिन्न-भिन्न देशों और समाजों में सदाचार और कर्तव्य की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। फिर भी सदाचार और कर्तव्य के सार्वभौमिक मानदंड एवं आदर्श अवश्य हैं।

वे कहते हैं- “हमारा पहला कर्तव्य यह है कि अपने प्रति घृणा न करें। स्वयं में विश्वास रखें और ईश्वर में विश्वास रखें। जिसे स्वयं में विश्वास नहीं है, उसे ईश्वर में कभी भी विश्वास नहीं हो सकता। दूसरों के ऐसे आदर्शों को लेकर चलने की अपेक्षा, जिनको वह पूरा ही नहीं कर सकता, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना सफलता का अधिक निश्चित मार्ग है।”

“समाज जब तारीफ करने लगता है, तब एक बुजदिल व्यक्ति भी बहादुर बन जाता है। समाज के समर्थन तथा प्रशंसा से एक मूर्ख भी वीरोचित कार्य कर सकता है। परन्तु अपने आसपास के लोगों की निन्दा-स्तुति की बिल्कुल परवाह न करते हुए सर्वदा सत्कार्य में लगे रहना सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।”

“गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए ब्रह्मज्ञान का लाभ ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु अपने सब कर्म निरन्तर करते रहना चाहिए और फलों को ब्रह्मार्पण कर देना चाहिए।”

‘भक्तियोग’ में स्वामी जी ने भक्ति को परम प्रेमरूप दर्शाते हुए भक्ति की गहरी विवेचना की है, जो नारद-भक्ति-सूत्र के अनुरूप ही है। नारद-भक्ति-सूत्रों की उन्होंने अलग से भी व्याख्या की तथा अंग्रेजी में अनुवाद लिखाया।

स्वामी जी कहते हैं “सभी वेदान्ती तीन बातों में एक मत हैं। वे सब ईश्वर को, वेदों के श्रुत रूप को तथा सृष्टि-चक्र को मानते हैं। वेद के अनेक भाग अप्राप्य हो चुके हैं। अनेक ब्राह्मण ग्रंथ भी नष्ट हो चुके हैं। वेदों का ज्ञानकाण्ड वेदान्त है। ये उपनिषद् हैं। व्यवहारतः वेदान्त ही हिन्दुओं का धर्मग्रंथ है।

वेदान्त की इस विशाल दृष्टि के कारण स्वामी जी को किसी भी प्रकार का अन्याय, अनौचित्य, अनुचित भेद-भाव, स्वार्थपरता, कृपणता, कठोरता, तुच्छता, विद्वेष, वंचना, विशेषाधिकार और विकृति सहन नहीं है। भारत के गरीबों, दुखियों, दरिद्रों के प्रति उनमें अथाह प्रेम, करुणा, दया और न्यायभावना उमड़-उमड़ पड़ती है। वे इन कठोरताओं पर उग्रतम प्रहार करना कर्तव्य समझते हैं।

❖ Section-2 : Introduction of Basic Yoga Texts

● 2.1.- पतंजलि योगदर्शन-

■ A. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

चित्त की वृत्तियों का निरोध = रुक जाना ‘योग’ अर्थात् ‘समाधि’ है। सूत्र में ‘सर्व’ शब्द का ग्रहण न होने से ‘सम्प्रज्ञात समाधि’ भी योग कही जाती है। क्योंकि सूत्र में यदि सर्वशब्द पढ़ देते तो अर्थ होता सब वृत्तियों का निरोध

ही योग है, किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि में सात्त्विक वृत्ति तो बनी ही रहती है, तब तो सम्प्रज्ञात समाधि योग की श्रेणी में नहीं आ पाती किन्तु सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण न होने से वृत्ति निरोध का अर्थ होगा राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध। चित्त तीन प्रकार के स्वभाव वाला प्रकाशशील, गतिशील और स्थितिशील है। इससे यह त्रिगुणात्मक है।

प्रकाशशील चित्त, सत्त्व, रजस् एवं तमस् से संसृष्ट होकर ऐश्वर्य एवं विषय का इच्छुक होता है। वही चित्तसत्त्व तमस् के द्वारा बिंधा हुआ अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को प्राप्त होता है। वही (चित्तसत्त्व) क्षीणमोहावरणवाला सब ओर से प्रकाशमान्, रजोमात्रा से संसृष्ट धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

वही (चित्तसत्त्व) रजोगुण की मात्रा रूपी मल के सम्पर्क से पृथक् हुआ, अपने शुद्ध (सात्त्विक) रूप में प्रतिष्ठित और बुद्धि तथा पुरुष की पृथक्ता के ज्ञान से युक्त, धर्ममेघ समाधि को प्राप्त होता है। योगी लोग उस (धर्ममेघ समाधिनिष्ठ चित्त) को 'पर प्रसंख्यान' कहते हैं। चेतन पुरुष परिणाम से रहित, निर्लेप (बुद्धि आदि के सम्मिश्रण से रहित) विषयों का द्रष्टा, शुद्ध (पवित्र), नाशरहित है। सत्त्वगुणात्मिका यह विवेकख्याति इस चित्तिशक्ति = जीवात्मा से विरुद्ध स्वभाव वाली है। उस विवेकख्याति के प्रति विरक्त चित्त उसको भी रोक देता है। उस अवस्था को प्राप्त चित्त निरोध संस्कारमात्रशेष स्थिति वाला होता है। वह निर्बीज समाधि है। उस अवस्था में सम्प्रज्ञात स्थिति में ज्ञात पदार्थों का परिज्ञान नहीं होता इसलिए इसे असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। वह चित्तवृत्तिनिरोध योग दो प्रकार का है- 1. सम्प्रज्ञात योग 2. असम्प्रज्ञात योग।

■ B. Concept of Chitta :

चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक होते हुए भी चित्त सत्त्वप्रधान है। 'सत्त्वबहुलचित्तं, सत्त्वप्रधानं चित्तं, प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलंचित्तं'

प्रख्या- ज्ञान, प्रकाश। 'तत्त्वज्ञानम्' अनेन सर्वे सात्त्विका गुणा उपलक्षिताः।'

प्रवृत्ति:- कर्म, क्रिया। 'कर्म, अनेन सर्वे राजसा गुणाः ग्राह्या।'

स्थिति:- क्रियाराहित्य एवं प्रकाशराहित्य 'वृत्त्याख्यगतिशून्यता निद्रेति यावत् अनेन सर्वे तामसा गुणा ग्राह्याः।'

ये तीनों गुण द्रव्यरूप हैं। प्रख्यादि तीनों धर्म क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् नामक द्रव्य रूप गुणों के धर्म हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने चित्त शब्द को बुद्धि या अन्तःकरण के रूप ग्रहण किया है। अन्तःकरण सामान्य को ही चित्त कहते हैं। वेदान्तशास्त्र में अन्तःकरण चार बताये गये हैं- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। सांख्यशास्त्र में भी मन, बुद्धि और अहंकार के भेद से अन्तःकरण तीन बताये गये हैं।

चित्त की पाँच भूमियाँ हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

1. क्षिप्तम्- 'रजसा विषयेष्वेववृत्तिमत्',- रजोगुण के उद्रेक के कारण विषयों में ही व्यापृत रहने वाली चित्त की अवस्था 'क्षिप्त' भूमि है।

2. मूढ़म्- 'तमसा निद्रादिवृत्तिमत्'- तमोगुण के उद्रेक के कारण मूर्च्छादिव्यापारवान् चित्त की स्थिति 'मूढ़' भूमि कही जाती है।

3. विक्षिप्तम्- 'क्षिताद्विशिष्टं विक्षिप्तं, सत्त्वाधिक्येन समादधदपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तराऽन्तरा विषयान्तरवृत्तिमद्'- क्षिप्तादि भूमि से कुछ बेहतर या अच्छी भूमि। इसमें सत्त्वगुणाधिक्य रहता है। इसमें किञ्चित्कालपर्यन्त समाधि लगने पर भी रजोगुण के जोर मारते रहने के कारण बीच-बीच में अन्य विषयों की ओर चित्त दौड़ जाता है। चित्त की यह अवस्था उसकी 'विक्षिप्त' नामक भूमि कही जाती है।

4. एकाग्रम्- 'एकस्मिन्नेव विषयेऽग्रं शिखा यस्य चित्तदीपस्येत्येकाग्रं, विशुद्धसत्त्वतयैकस्मिन्नेव विषये वक्ष्यमाणावधीकृतकालपर्यन्तमचञ्चलं निवातस्थदीपवत्। तथा च क्षिप्तादित्रयेऽपिकिञ्चिदैकाग्रसत्त्वेऽपि तत्र नातिप्रसङ्गः।'

इस अवस्था में चित्त की सात्त्विकवृत्ति किसी एक विषय की ओर लगी रहती है। रजोगुण और तमोगुण दबे

रहते हैं। अतः उस एक विषय की ओर अग्र या उन्मुख वृत्ति वाली अवस्था को 'एकाग्रभूमि' कहते हैं।

5. निरुद्धम्— निरुद्धं च निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषमित्यर्थः।

जिस अवस्था में चित्त की तामस् और राजस् वृत्तियों के साथ-साथ सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, केवल निरोध संस्कारमात्र चित्त में रहते हैं, उसे निरुद्ध भूमि कहते हैं।

प्रारम्भ की तीन भूमिगत चित्त को योग की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता। केवल एकाग्र और निरुद्ध भूमि में भी समाधि की प्राप्ति होती है।

चित्त अर्थात् अन्तःकरण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार नाम से भी बुलाया जाता है। अनादि काल से चले आ रहे प्रारब्ध रूप संस्कार तथा वासना रूपी संस्कार और सब संस्कारों का निरोध होने पर निरोध रूपी संस्कार भी चित्त में ही रहते हैं। सृष्टि के आदि काल में एक बार जो चित्त हमें मिलता है वह जन्म-जन्मान्तरों तक हमारे साथ एक जीवन से दूसरे जीवन में पलता है। यह चित्त दो ही अवस्थाओं में विलय को प्राप्त करता है, एक तो मोक्ष की अवस्था में, क्योंकि अब चित्त समाप्ताधिकार हो गया, कृतकृत्य हो गया अर्थात् जो इस चित्त से करने योग्य था वह सब प्राप्त कर दिया गया। भोग अपवर्ग को प्राप्त करके यह कृतकृत होकर अपने मूल कारण मूलप्रकृति में लीन हो जाता है तब योगी कह उठता है— **प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसङ्क्रमः।** या फिर दूसरा प्रलयावस्था में भी नष्ट हो जाता है लेकिन सूक्ष्म रूप या बीज रूप में तो तब भी बना रहता है।

■ C. चित्तवृत्तियाँ—

वर्ततेऽनयेति वृत्तिः वृत्+क्तिन् - करणे। वृत्-वर्तने धातु से करण कारक में क्तिन् प्रत्यय करने से वृत्ति' शब्द की सिद्धि होती है। चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है इसलिए चित्त की असंख्य वृत्तियाँ रहती हैं लेकिन सत्व आदि गुणों के आधार पर उनका विभाजन मुख्य रूप से पाँचों भागों में किया जा सकता है। **वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।** (योगदर्शन 1.5) पाँच प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं। मनुष्य का चित्त जिन-जिन स्थितियों में रहता है उन्हीं को चित्त की वृत्तियाँ कहते हैं।

'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।' (योगदर्शन 1.6) प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति ये पाँच वृत्तियाँ हैं। अविद्यादि पाँच क्लेशों से उत्पन्न होने वाली तथा कर्म संस्कार समूह को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट तथा विवेकख्यातिविषयक गुणों के कार्य की विरोधिनी वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं। पाप या पुण्यरूप सभी संस्कार या कर्माशय ये वृत्तियाँ ही उत्पन्न करती हैं। जिस प्रकार के संस्कार होते हैं वैसे ही व्यक्ति की वृत्तियाँ होती हैं और जैसी वृत्तियाँ होती हैं वैसे ही व्यक्ति कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसे ही संस्कार बनते हैं इस प्रकार संस्कार और वृत्तियों का यह चक्र चित्त में सदैव चलता रहता है। इसलिए यह चित्त जब कृतकृत्य हो जाता है। तब चित्ती शक्ति के समान गुणातीत जैसा ही रह जाता है या फिर आव्यक्त में लीन हो जाता है। योग करने वाले व्यक्ति को अभ्यास व वैराग्य के द्वारा इन वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। इन वृत्तियों का निरोध होने पर ही सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति करके आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

■ D. चित्त प्रसाद—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य विषय वाले व्यक्तियों में क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता, उदासीनता की भावना के अनुष्ठान से चित्त की प्रसन्नता और एकाग्रता होती है। उन भावनाओं में से सुखभोगयुक्त सब प्राणियों में मैत्री की भावना, दुःखी प्राणियों में करुणा की भावना, पुण्यात्माओं में हर्ष की और अपुण्यत्माओं में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार भावना करने वाले उपासक के आत्मा में शुद्धधर्म उत्पन्न होता है। उससे चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त होता है। योगदर्शन (1.20) के व्यासभाष्य में श्रद्धा को चित्त का प्रसाद या निर्मलता या प्रसन्नता कहा है। **'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगनं पाति।'** योग दर्शन में ही एक अन्य स्थान

पर पतंजलि ऋषि कहते हैं- निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। (योगदर्शन 1.47)

निर्विचार समापत्ति के निर्मल हो जाने पर योगी को अध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होता है। रजस और तमस रूपी अशुद्धि राशि ही आवरणकारक मल है। उससे रहित प्रकाश स्वाभाव वाले बुद्धि सत्व की रजस्-तमस् सम्पर्क रहित निर्मल एकाग्रता की धारा ही वैशारद्य है। जब निर्विचार समाधि से यह निर्मलता उत्पन्न होती है, तब योगी को अद्भुत बौद्धिक उत्कर्ष अर्थात् स्पष्ट प्रज्ञा प्रकाश प्राप्त होता है। कहा भी है-

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

निर्विचार समापत्ति के निर्मल हो जाने पर योगी को अध्यात्मिक प्रसार प्राप्त होता है इस स्थिति में प्रज्ञा के प्रकाश पर (महल पर) आरुढ़ होकर शोकातीत विद्वान् योगी शोक करते हुए सब प्राणियों को इसी प्रकार देखता है जैसे पर्वत के शिखर पर खड़ा हुआ कोई व्यक्ति भूमि पर रहने वालों को देखता है।

■ E. पंच क्लेश-

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। (योगदर्शन 2.3) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश होते हैं। इन्हीं को पाँच मिथ्या ज्ञान भी कहते हैं। ये पाँच क्लेश त्रिगुण के कार्य को सुदृढ़ करते हैं। अर्थात् त्रिगुणात्मक बुद्धि को पुरुष के भोग अपवर्ग कार्यों में लगाये रहते हैं। गुणों की परिणाम धारा को चलाते रहते हैं। अव्यक्त से महद्, अहंकार आदि परम्परा को बढ़ाते हैं। आपस में एक-दूसरे पर अनुग्रह करने वाले होते हैं। प्राणियों के जन्म, आयु, भोग रूपी कर्मफल को निष्पादित करते हैं। ये क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओं में रहते हैं। अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों की अविद्या-जननी, उद्भव स्थली या प्रसवभूमि है अर्थात् अविद्या के न रहने पर ही इन चारों क्लेशों की किसी भी अवस्था में सत्ता सम्भव नहीं है। अविद्या क्या है? यह योग दर्शन 2.5 में स्पष्ट किया है-

अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन 2.5)

समाधि की प्राप्ति तथा अविद्यादि पाँच क्लेशों को हल्का करने के लिए अर्थात् तनु करने के लिए क्रियायोग का अभ्यास करना चाहिए।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। (योगदर्शन 2.10) वे अविद्यादि सूक्ष्म क्लेश योगी के कृतकृत्य चित्त के अव्यक्त में लीन होने पर उसी के साथ लीन हो जाते हैं। **ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।** उन क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ क्रियायोग से हल्की कर दी जाने पर प्रसंख्यान नामक ध्यान अर्थात् विवेक ख्याति के द्वारा नष्ट करने योग्य हो जाती है। जिससे कि वे क्लेश दग्धबीज सदृश हो जायें। इसके लिए दृष्टान्त है- जैसे वस्त्रों की स्थूल गंदगी पहले दूर की जाती है और बाद में प्रयत्न और उपाय से सूक्ष्म गंदगी हटायी जाती है वैसे ही क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ स्वल्प प्रतिकार वाली तथा सूक्ष्म वृत्तियाँ महान् प्रतिकार वाली होती हैं। क्लेश रूपी मूल के रहने पर जन्म, आयु और भोग रूपी कर्माशय के फल प्राप्त होते हैं, नहीं रहने पर नहीं। जैसे- भूसी निकले हुए या जले हुए चावल अंकुरित होने पर समर्थ नहीं होते।

2.1.2 The Bhagavat Geeta

■ A. भगवद् गीता में योगतत्त्व-

वेदों में योग- योग वैदिक काल में ही भारतीय वेत्ताओं के द्वारा सीखा जा चुका था और ज्ञात हो चुका था। इस तथ्य के अनेक साक्ष्य भी मिलते हैं। भले ही योग, मोक्ष के साक्षात् साधन के रूप में उस समय न जाना जाता रहा हो किन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए, शान्ति और अक्षुण्ण सुख के लिये तथा देवोपासना के लिये योग का अवश्य की व्यवहार ऋग्वेद-काल से ज्ञात था। उसके विविध उपादानों के वर्गीकरण, विभाजन और उसके प्रकृष्टतम शुद्ध स्वरूप के निरूपण

को परवर्ती विकासक्रम की देन मानने में हमें आपत्त नहीं, किन्तु वैदिककाल में योग की साधना और प्रक्रिया अपने किसी निश्चित रूप में ज्ञात नहीं थी—यह मानना ऐतिहासिक साक्ष्यों की तीव्रतम अवहेलना होगी। ‘योग’ का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में अनेकशः हुआ है। इनमें से कुछ स्थलों पर व्यवहृत ‘योग’ शब्द निश्चित रूप से ‘योग साधना’ का ही अर्थ देता है। उदाहरण के लिए ये तीन स्थल दर्शनीय हैं—

(1) ‘यस्तमादृते न सिध्यति यज्ञो विपिश्वितश्चन।

स धीनां योगमिन्वति॥’

—ऋक्संहिता, मंडल1/सूक्त18/मन्त्र 7।

(2) ‘स धा नो योग आभुवत् स राये स पुरंध्याम्।

गमद् वाजेभिरा स नः॥’

—ऋक्संहिता, 1/5/3, सामवेदसंहिता उत्त01/2/10/3, अथर्ववेद 20/69/1

(3) ‘योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।

सखाय इन्द्रमूतये।

(4) ‘युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।

स्वर्गपाय शक्त्या।

इन मन्त्रों में आये हुये ‘योगम्’ ‘योगे’ और ‘योगे-योगे’ पर निश्चय ही चित्त की किसी न किसी प्रकार की एकाग्रता का ही बोध कराते हैं।

उपनिषदों में योग— उपनिषदों का अविर्भाव ज्ञान की अद्वैतधाराओं की प्रस्तावना करता है। अतः सांख्ययोग मतवाद के प्रति उनकी उपेक्षा-दृष्टि प्रतीत होती है। फिर भी योग की महत्ता और उपयोगिता का आकलन उपनिषदों में हुआ है। काठकोपनिषद् में आत्मज्ञान साधन के रूप में योग को स्वीकार किया गया है—

1. ‘अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।’

2. ‘तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्यौ ।

3. पराञ्छिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् परान्पश्यतिनान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

ब्रह्दारण्यक उपनिषद् ने भी आत्मदर्शन के लिये समाधि को अनिवार्य रूप में प्रतिपादित किया है—

‘तस्मादेवं विच्छान्तोदान्तउपरतस्तित्क्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति।

मैत्रायणी उपनिषद् में भी समाधि के द्वारा चित्त की शुद्धि करके ही आत्मानुभूति का आनन्द सम्भव

बताया गया है— ‘समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो, निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत।

श्वेताश्वतर उपनिषद् तो योग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करती है और योगसम्बन्धी अनेक सूचनाएँ देती है—

1. ‘योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।

2. ‘न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

गर्भोपनिषद् ने तो जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिये योगाभ्यास को अद्वितीय साधन के रूप में प्रतिपादित किया है।

‘यदि योऽन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।’

गीता में योग— गीता भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। गीता की महत्ता इस बात से सिद्ध होती है कि संसार की सर्वाधिक भाषा में गीता का अनुवाद हुआ है। इस प्रकार गीता संसार प्रसिद्ध ग्रंथ है। गीता में सभी प्रकार की विधाएँ विद्यमान हैं। मनुष्य जीवन में प्रत्येक अंग को गीता में वर्णित किया गया है। सभी विषयों के साथ-गीता में योग को विशेष स्थान दिया गया है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि गीता के प्रत्येक अध्याय के नाम के साथ योग का शब्द का प्रयोग किया गया है। योग क्या है? किस स्थान पर योगाभ्यास करना चाहिए? किस

प्रकार योग करना चाहिए। योग करने से किस फल की प्राप्ति होती है। इन सभी बातों का गीता में विस्तार से वर्णन किया गया है।

गीता में योग कि विभिन्न परिभाषायें दी गयी हैं। द्वितीय अध्याय में 48 वें श्लोक में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है-

योगस्थः कुरुकर्माणि सगंत्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥ -गीता (2/48)

अर्थात् हे अर्जुन तू कर्मफलो की आसक्ति त्यागकर समबुद्धि होकर कर्म कर क्योंकि जिसका भूतों में समान भाव तथा सिद्धि और असिद्धि में जिसकी बुद्धि समान रहती है, वही योग की अवस्था रहती है, अर्थात् योग साधक का चित्त सुख में दुःख में लाभ-हानि में जय पराजय में शीत उष्ण, भूख-प्यास आदि सभी द्वन्द्वों में समान बना रहता है। बुद्धि का यह भाव सम भाव है। इसी अध्याय में योग की अन्य परिभाषा देते हुए कहा गया है-

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।

तस्यमाद्योगाय युजस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ -गीता (2/50)

बुद्धि से युक्त मनुष्य संसार के सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकार के कर्मों में आसक्ति को त्याग देता है ऐसे ही कर्मों के लिए प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ये कुशल कर्म योग कहलाते हैं कि वे बंधन का कारण न बन सकें। बल्कि मुक्ति दिलाने वाले हो सकें। अन्य स्थान पर गीता में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है-

तं विद्याद् दुःखसंयोग वियोगं योगसञ्ज्ञितम्॥ -गीता (6/23)

अर्थात् वह विद्या जिससे दुःखों से पूर्णतया छुटकारा मिल जाय, उसे ही प्राप्त करना योग कहलाता है।

गीता में वैसे तो योग की सभी पद्धतियों का वर्णन किया गया है, किन्तु योग की दो निष्ठाओं का मुख्य रूप से वर्णन प्राप्त होता है।

लोकेऽस्मिन्द्विविद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानद्य।

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् -गीता (3/3)

अर्थात् ज्ञानयोगियों के लिए मैंने सांख्य का वर्णन किया और कर्मयोगियों के लिए मैंने योग का वर्णन किया। इस प्रकार गीता में ज्ञान और कर्मयोग का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। कर्मयोग के अंतर्गत कहा गया है कि 'मनुष्य को केवल विधि कर्म अर्थात् जो शास्त्रों में निर्देशित किये गये हैं वहीं कर्म करने चाहिए, और कर्म भी फल की आसक्ति को त्याग कर निष्काम भाव से किये जाते हैं, तो वे ही कर्म मुक्तिदायक कर्म होते हैं। यही कर्म कर्मयोग के अंतर्गत आते हैं। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के अतिरिक्त भक्तियोग, मंत्रयोग, ध्यानयोग आदि का गीता में वर्णन किया गया है।

भक्ति योग की प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं - जो भक्त सब कुछ मेरे ऊपर छोड़कर हर समय मुझको भजता है उसका मैं सबसे पहले ध्यान रखता हूँ और वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। गीता में श्रीकृष्ण योग परम्परा का वर्णन भी करते हैं श्री कृष्ण कहते हैं कि इस योग विद्या को मैंने सृष्टि के आदि में विवस्वान को बताया। विवस्वान ने मनु को बताया, मनु ने इक्ष्वाकु को बताया। इस प्रकार गुरु शिष्य परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षि लोग जानते हैं। यह योग बहुत समय से लुप्त हो गया था। उसी पुराने योग का वर्णन मैं, हे अर्जुन! तेरे सम्मुख कर रहा हूँ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिकुशोत्तरम्॥ -गीता (6/11)

अर्थात् पवित्र स्थान में सबसे नीचे वस्त्र, उसके ऊपर मृगचर्म और कुशासन बिछाकर और यह आसन न ऊंचा हो न अधिक नीचा। ऐसे आसन पर स्थिर आसन जमाना चाहिए। इसी में आगे ध्यान करते समय शरीर की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

संपेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चनवयलोकयन्॥ -गीता (6/13)

अर्थात् शरीर सिर और ग्रीवा (गर्दन) को एक सीध में रखते हुए अर्थात् शरीर न आगे झुका हुआ है और न पीछे झुका हुआ हो। इस प्रकार निश्चल धारणा करता हुआ स्थिर होकर चारों दिशाओं को न देखता हुआ योग साध

ना करें। इसी अध्याय में योग साधना के लिए एकान्त स्थान का वर्णन किया गया है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर परिग्रहः॥ -गीता (6/10)

अर्थात् मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला कामना रहित हो, अपरिग्रही बनकर योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर आत्मा को परमात्मा में निरन्तर लगावे। आगे श्रीकृष्ण कहते हैं-

यदानिनियतं चित्तमात्मन्ये वावतिष्ठते।

निः स्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ -गीता (6/18)

अर्थात् अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्म में ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से स्पृहरहित पुरुष योग युक्त है, ऐसा कहा गया है। क्योंकि कहते हैं-

यथा दीपोनिवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो/योगमात्मनः॥ -गीता (6/19)

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में स्थित दीप चलायमान नहीं होता, वैसे ही अवस्था उस परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं एक महान् योगी थे। उन्होंने सभी के लिए योग का निर्देश दिया। वे कहते हैं कि कुछ ऐसे भी लोग हैं जो न ध्यान में समर्थ हैं, न अन्तर्दर्शन में, न सांख्ययोग में न कर्मयोग में ऐसे मनुष्य भी तत्त्वज्ञानियों से सुन-सुनकर कोई न कोई मार्ग पा लेते हैं। ऐसे श्रवण-परायण योगी भी मृत्यु को जीत लेते हैं। इससे विदित होता है कि उन्होंने योग को कितना महत्वपूर्ण माना। योगी की महत्ता का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं-

तपस्वीभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्ताद्योगी भवार्जुन॥ -गीता (6/46)

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्र ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करने वालो से भी योगी श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन! तू योगी बन।

भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि योग साधना एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलते हुए यदि साधक योगभ्रष्ट हो जाये अर्थात् योग मार्ग से विचलित हो जाये तो भी पूर्व में की गई योगसाधना के बल पर वह आत्मा, पुण्यात्माओं के लोक में लंबे समय तक रहकर और श्री संपन्न लोगों के घर जन्म पाता है।

इस प्रकार गीता में योग की महत्ता स्वतः सिद्ध होती है, जिसके इन महत्वपूर्ण श्लोकों के रूप में प्रबल प्रमाण हैं।

■ B. गीता में योगी की परिभाषा- (जोड़ा जाए)

आमजन से लेकर विद्वज्जन तक के मन, मस्तिष्क व हृदय में एक संशय या भ्रम की स्थिति बार-बार उत्पन्न होती है और उससे जीवन में अवरोध, अवसाद, अविश्वास, निराशा, अकर्मण्यता व आत्मग्लानि का भाव पैदा हो जाता है। वह धर्म, स्वधर्म, स्वकर्म, वर्णआश्रम धर्म, परिवार धर्म, समाज धर्म, मानव धर्म व राष्ट्र धर्म के बारे में कोई निर्णय नहीं ले पाता और कुण्ठित होकर एक उलझन में फंस जाता है। किन्तु एक योगी व्यक्ति योग में स्थित रहते हुए इन तमाम जिम्मेदारियों को बखूबी निभा सकता है। गीता में अर्जुन को माध्यम बनाकर योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थ, ऊर्जा, आशा, विश्वास व आत्मगौरव का भाव जागृत कर उनको स्वधर्म या स्वकर्म में लगकर पूर्ण पवित्रता व जवाबदेही के साथ कर्तव्य पालन का उपदेश दिया है जो आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता या प्राथमिकता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने लगभग 5000 साल पहले जो उपदेश, संदेश व गीता के अंत में जो आदेश दिया था, वह आज भी उतना ही सार्थक, प्रासंगिक व आवश्यक है। अर्जुन के अवसाद में डूब जाने पर उसे उत्साह दिलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ 2/3

तू नपुंसकता, कायरता व पलायन की बातें छोड़ अपने कर्तव्य का पालन कर। आज भी मानव समाज के सामने सबसे बड़ी समस्या, संकट व चुनौती है कर्तव्य-विमुखता, असंवेदनशीलता, आलस्य, अकर्मण्यता व कायरता। योगेश्वर

श्रीकृष्ण कह रहे हैं, हे अर्जुन! आत्मा अजर, अमर, नित्य, अविनाशी व अविकारी है। मृत्यु से भयभीत नहीं हो, मृत्यु तो पुनर्जन्म है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 2/27

स्वधर्म या कर्तव्य का पालन करता हुआ अगर तू युद्ध में मारा भी जायेगा तो तुझे निश्चय ही स्वर्ग, आत्मसंतोष, सुख, शान्ति, तृप्ति या मुक्ति मिलेगी और यदि कर्तव्य पालन करता हुआ तू विजयी होगा तो सम्पूर्ण पृथ्वी का साम्राज्य पायेगा।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ 2/37

योगेश्वर श्रीकृष्ण बार-बार अनासक्त, निःस्पृह, कर्मफल की इच्छा से रहित होकर योगेस्थ होकर समर्पित भाव से कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ 2/47

योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 2/48

कर्म ही धर्म है, कर्म ही पूजा है, कर्म ही जीवन व जगत् का सत्य है। अकर्मण्य व्यक्ति राक्षस या असुर है, आराम हराम है तथा कार्यान्तर ही विश्राम है। योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्माणि॥ 3/22

हे पार्थ मुझे तीनों लोकों में न तो कुछ प्राप्त करना है और न ही कोई ऐसी वस्तु है जो मुझे प्राप्त न हो, फिर भी मैं कर्तव्यकर्म के पालन में निरन्तर संलग्न हूँ। क्योंकि यदि मैंने कर्तव्य का पालन नहीं किया तो संसार की सम्पूर्ण व्यवस्था ही नष्ट हो जायेगी और समस्त प्रजाएं भ्रष्ट हो जायेगी।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ 3/21

आगे भगवान् कहते हैं-

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (३/३५)

अपने कर्तव्य-कर्म, स्वधर्म का पालन करते हुए मरना भी श्रेष्ठ है और स्वधर्म के विरुद्ध आचरण भय, दुःख व अशान्ति देने वाला है।

योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण सांख्ययोग (ज्ञानयोग), भक्तियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, विभूतियोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, अक्षरब्रह्मयोग, आत्मसंयमयोग व मोक्षसत्र्यासयोग आदि समस्त योगों का उपदेश करके पुनः अन्त में गीता के १८ वें अध्याय में कर्मयोग अर्थात् कर्तव्यपालन से ही अपना उपदेश, संदेश या आदेश समाप्त करते हुए कहते हैं-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ (१८/४५)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८/४६)

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्॥ (१८/४७)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्॥ (१८/४८)

प्रकृति व परमेश्वर ने जिस उद्देश्य के लिए तुम्हें जन्म दिया है उस कर्तव्य कर्म को अपना स्वकर्म स्वधर्म मानकर अपने कर्तव्य का निर्वहण करो, यही सब वेदों, दर्शनों, उपनिषदों व गीता का सार है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स सन्न्यासी च योगी च न निरग्रिर्न चाक्रियः॥ (६/१)

कर्मफल की इच्छा (वासना) से रहित होकर जो बिना प्रलोभन या भय के कर्तव्य कर्म का पालन कर रहा है वही सच्चा सन्न्यासी व सच्चा योगी है, अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड की क्रियाओं को छोड़ने वाला अथवा कर्तव्य कर्म से पलायन करने वाला योगी नहीं होता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (४/७)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (४/८)

जब-जब समाज में आत्मविमुखता, असंवदेनशीलता, उदासीनता, अकर्मण्यता, पाप, हिंसा, अपराध, दुराचार, व्यभिचार, निराशा, अविश्वास व आत्मग्लानि का भाव बढ़ जाता है और मनुष्य स्वधर्म व राष्ट्रधर्म को विस्मृत कर देता है तो स्वयं भगवान् अपने सच्चे प्रतिनिधियों को धरती पर जन्म देता है।

अतः हे पार्थ! परमात्मा या ईश्वर ने तुझे अपने प्रतिनिधि के रूप में धरती पर भेजा है। उठ, जाग, अपने स्वधर्म (आत्मधर्म), स्वकर्म, राष्ट्रधर्म, युगधर्म व कर्तव्यकर्म का पालन कर; साधु-सन्तों, सज्जनों, पुण्यात्मा देशभक्तों व प्रभुभक्तों की रक्षा तथा पापियों व भ्रष्टाचारियों को नष्ट करने के लिए ही तेरा जन्म हुआ है। अतः संशय व भ्रम को मिटाकर स्वधर्म को पूर्ण समर्पण के साथ निभा।

योगेश्वर श्री कृष्ण योगी को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ (६/४६)

तपस्वियों, ज्ञानियों (शास्त्रज्ञानपारंगत) एवं कर्मियों (अपनी कामनाओं को पूर्ण करने में रात-दिन लगे हुए सकामकर्मियों) से भी योगी श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन! तुझे अन्य कुछ भी होने से पहले योगी होना है। योगी होना गीता की दृष्टि में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रथम व अनिवार्य शर्त है। परन्तु योगी को भी कर्तव्य से पलायन नहीं करना है।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (५/११)

कर्म करते हुए कर्म के बन्धन से मुक्त रह सके, अतः ज्ञानी बनना 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (४/३८) तथा ज्ञान प्राप्त करके भी श्रद्धावान् रहना और भक्ति करना अन्यथा कोरा ज्ञान तुम्हें अहंकारी बना देगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (१८/६५)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (६/३०)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सदुर्लभः॥ (७/१९)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (१८/६२)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८/६६)

सब रूप परमात्मा के ही प्रतिरूप हैं अर्थात् सब रूपों में ब्रह्मरूप का दर्शन व सब सम्बन्धों में ब्रह्म सम्बन्ध की अनुभूति करता हुआ स्वकर्म को स्वधर्म मानकर तू सर्वभाव से उस ईश्वर की शरण में जा, यही परमशान्ति व मुक्ति का एक मात्र मार्ग है। गीता किसी पूजा-पाठ की पद्धति अथवा किसी प्रतीकात्मक धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करती अपितु गीता का ज्ञान

सार्वभौमिक, वैज्ञानिक व सार्वकालिक है। गीता जीवन को अन्तर्दृष्टि से परिपूरित करने वाला अन्तश्चक्षु है। गीता निराशा, अविश्वास, अकर्मण्यता, काल्पनिक भय, भ्रम, संशय, अशान्ति, असंवेदनशीलता, कायरता, आत्मग्लानि, निराशा, हताशा एवं अवसाद से भरे प्रत्येक मनुष्य के लिए एक जीवन्त दर्शन है, एक संजीवनी है। आओ, अब संशय, मोह, अज्ञान को छोड़ सन्तों व शास्त्रों के उपदेश के अनुरूप जीवन जीते हुए स्वकर्म, स्वकर्तव्य अथवा स्वधर्म के पालन का प्रण लें। यही योगी का लक्षण है, इस अवस्था में पहुँचकर योगी अपने सांसारिक कर्तव्य कर्म को योगस्थ होकर पूर्णता के साथ निभाते हुए ईश्वर के समर्पित भाव में रहते हुए वैसी ही भाषा बोलता है जैसी लगभग 5 हजार वर्ष पहले अर्जुन बोल रहा था-

**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युता।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (१८/७३)**

■ C. गीता का ज्ञानयोग, कर्मयोग व भक्तियोग-

■ **ज्ञान योग-** भारतीय साहित्य में मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन गिनाये गये हैं- ज्ञान, कर्म, उपासना। ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, कर्म का सम्बन्ध इन्द्रियों से है, उपासना का सम्बन्ध हृदय से है। इसी को अंग्रेजी में **Knowing, willing, feeling** कहते हैं। ज्ञान के मार्ग को ज्ञानयोग, कर्म के मार्ग को कर्मयोग तथा उपासना के मार्ग को भक्तियोग कहा जाता है। शंकराचार्य अद्वैतवादी थे। उनका कहना था कि जगत् मिथ्या (नित्य परिवर्तनशील) है, ब्रह्म ही सत् है, आत्मा भी मूलतः ब्रह्म है, यह जो नानात्व दिखाई देता है उसका कारण अज्ञान है। अगर यह बात ठीक है कि अज्ञान ही सब रोगों की जड़ है तो हमारे सब रोगों को काटने का उपाय भी 'ज्ञान' के सिवाय दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि शंकराचार्य के कथनानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान-योग' है। कर्म तो करना ही पड़ता है, परन्तु कर्म मुख्य नहीं, ज्ञान मुख्य है, कर्म किया जाता है कर्म का त्याग करने के लिये, संन्यास के लिये, कर्मों से निवृत्ति के लिये।

सांख्यदर्शन के अनुसार- 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। आत्मा के बन्धन का कारण केवल अविवेक है। इस अर्थ को दृढ़ करने के लिए ऋषि ने कहा- **प्रकारान्तरसंभवादविवेक एव बन्धः॥16॥** सांख्यदर्शन 6.16

अर्थात् अन्य किसी प्रकार के संभव न होने से केवल अविवेक ही बन्धन का कारण समझना चाहिए।

योगदर्शन के अनुसार- अपरवैराग्य तथा परवैराग्य के अभ्यास से अशुद्धि रूपी आवरण से रहित होने पर प्रकाश स्वरूप सत्त्वमयी बुद्धि का अर्थात् विवेक का उद्घाटन होता है। यही योगी के लिए आध्यात्मिक प्रसाद है। इस ज्ञान के प्रकाश से अविद्यादि समस्त क्लेशों का नाश करके अर्थात् दग्धबीज क्लेश स्थिति को प्राप्त करके योगी असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् ईश्वर के आनन्द को प्राप्त करता है।

आदिगुरु शंकराचार्य ने भी विवेक वैराग्य को ही समाधि का सर्वोत्तम साधन माना है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥37॥ गीता 4.37

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्मीभूत कर देता है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परन्तप।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥33॥ गीता 4.33

द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यंत श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥42॥ गीता 4.42

इसलिए हे अर्जुन! तू अपने हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय का विवेक ज्ञान रूप तलवार के द्वारा छेदन

करके समत्व रूप कर्मयोग में स्थित हो जा।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥16॥ गीता 5.16

जिनका वह अज्ञान परमात्मा के तत्व ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस सच्चिदानंदघन परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥29॥ गीता 6.29

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकी भाव से स्थितरूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥30॥ गीता 6.30

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्म रूप मुझ ईश्वर को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझमें देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता।

इस प्रसंग में गीता के 13-7.11.29 तथा 18वें अध्याय की 49, 50 श्लोक दृष्टव्य हैं।

■ **कर्मयोग**— गीता के कर्मयोग के विषय में लोकमान्य तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह घोषित किया कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ज्ञान नहीं, भक्ति नहीं अपितु कर्म है। उनका कहना है कि किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को देखने के लिये उसका आदि देखना चाहिये, अन्त देखना चाहिये, यह देखना चाहिये कि पुस्तक के बीच में बार-बार किस बात को दोहराया गया है। जो बात शुरू में कही गयी हो, जो बात बीच-बीच में दोहराई गई हो, जो अन्त में कही गई हो, वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय हो सकता है। इसी को मीमांसक कहते हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंग तात्पर्यनिर्णये॥

उपक्रम में, उपसंहार में, अभ्यास अर्थात् बार-बार दोहराने में जो बात कही जाय— लिंग तात्पर्यनिर्णये—ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में उसी बात को प्रधानता दी जानी चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रश्न होता है कि गीता का प्रारम्भ कैसे हुआ, बीच में क्या बात कही गई, अन्त कैसे हुआ? कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने बुजुर्गों, गुरुओं, सगे-सम्बन्धियों को खड़े देखकर अर्जुन घबड़ा उठा, गांडीव उसके हाथ से गिर पड़ा, वह संन्यास लेने के लिये तैयार हो गया, कर्म छोड़ बैठा। जब गीता का उपदेश हो चुका तब उसने श्रीकृष्ण से कहा— **‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव’**—हे अच्युत! मेरा मोह नष्ट हो गया, जैसा आप कहेंगे, मैं वैसा करूँगा। अन्त में अर्जुन ने गांडीव धनुष पकड़ा, गुरुओं, सगे-संबन्धियों को मौत के घाट उतार दिया। जो अर्जुन कर्म छोड़ चुका था, वह कर्म में प्रवृत्त हुआ, तब यह कैसे कहा जाय कि गीता में ‘ज्ञानयोग’ है या ‘भक्तियोग’ है? लोकमान्य तिलक का प्रतिपाद्य विषय ‘कर्मयोग’ है, अन्य योगों का वर्णन अवान्तर रूप से किया गया है।

श्री अरविन्द के अनुसार गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव-कर्म (Human Action) नहीं, अपितु दिव्य कर्म (Divine Action) है। “मानव-कर्म” क्या है और “दिव्य-कर्म” क्या है?

जिन्हें हम कर्तव्य-कर्म कहते हैं वे सब ‘मानव-धर्म’ हैं। समाज ने जिन कर्तव्यों को हमारे लिये निश्चित किया है, वे ‘दिव्य धर्म’ नहीं, ‘मानव-धर्म’ हैं। ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय के लिए क्षात्र कर्म— ये सब ‘दिव्यधर्म’ नहीं कहे जा सकते, ये सब ‘मानव-धर्म’ हैं। सिपाही युद्ध में जिसे सामने आते देखें उसी पर गोली दाग दे, वकील अपने सच्चे-झूठे मुक्किल की जी जान से पैरवी करे, जज हर अपराधी को जेल भेज दे— ये सब ‘मानवधर्म’ हैं, ‘दिव्य धर्म’ नहीं। मानव धर्म का अर्थ है— ‘सामाजिक-धर्म’। समाज ने अपनी आवश्यकताओं के लिये जो उचित समझा वह मनुष्य का कर्तव्य निश्चित कर दिया। समाज की आवश्यकता बदल जाय तो यह धर्म, यह कर्म भी बदल जाय। जो

कर्म मानव-समाज की आवश्यकता अनुसार बदल सकता है, ऐसे कर्म के लिये गीता जैसा महान् ग्रन्थ क्या यह उपदेश दे सकता है कि उसे आँख मीच कर चल पड़े- यह कैसे हो सकता है? श्री अरविन्द का कहना है कि गीता मानव को 'मानव-कर्म' के लिये नहीं, 'दिव्य कर्म' के लिये प्रेरित करती है। 'दिव्य कर्म' क्या है? इस विश्व का नियन्त्रण मनुष्य नहीं कर रहा, भगवान् कर रहा है, कोई दैवी-शक्ति कर रही है। उस दिव्य शक्ति का विश्व के संचालन में जो उद्देश्य है, उस उद्देश्य के साथ एकतानता उत्पन्न कर लेना, उस उद्देश्य को पूर्ण करने में अपनी शक्ति लगा देना ही 'दिव्य-कर्म' है। 'दिव्य-उद्देश्य' (Divine Purpose) को पूर्ण करने वाला कर्म दिव्य-कर्म (Divine Action) है, और जब मनुष्य दिव्य-कर्म करने लगता है तब वह स्वयं कर्म नहीं कर रहा होता, मनुष्य को माध्यम बनाकर भगवान् ही कर्म कर रहा होता है, मनुष्य तो निमित्तमात्र होता 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!' 'दिव्य-कर्म' का यह अर्थ नहीं है कि उसमें 'मानव-कर्म' आ नहीं जाता या इन दोनों का सदा विरोध है। समाज-सेवा, अपने-अपने चातुर्वर्ण्य का पालन, समाज के निश्चित किये हुए कर्तव्य कर्म-ये सब 'दिव्य-कर्म' के अंग हो सकते हैं, आजकल के युग में ये 'दिव्य कर्म' के अंग हैं भी, इसीलिये ये चल भी रहे हैं, परन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जब 'दिव्य-कर्म' और 'मानव-कर्म' में विरोध उठ खड़े हो। बुद्ध के जीवन में ऐसा अवसर आया; दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द के जीवन में भी ऐसा अवसर आया। उस समय उन्होंने 'मानव-कर्म' को, उस कर्म को जिसे हम कर्तव्य कर्म कहते हैं, परे फेंक कर 'दिव्य-कर्म' को पकड़ा, अन्तरात्मा की पुकार सुनी, अपने भीतर बैठे परमात्मा के आदेश का पालन किया, सांसारिक कर्तव्य-अकर्तव्य के मोह में नहीं पड़े। गीता का प्रतिपाद्य-विषय यही 'दिव्य-कर्म' है, यही निष्काम कर्म है।

कर्मयोग के विषय में उपनिषद् का संदेश है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतुं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥ ईशावास्योपनिषद् 1.2

इस मंत्र का अभिप्राय है कि मनुष्य कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। वह कर्म तो करे किन्तु निष्काम कर्म करे। इस प्रकार निष्काम, अकाम, आप्तकाम भाव से कर्म करते हुए मनुष्य में कर्मों का लेप नहीं होता। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है।

■ **भक्तियोग**- गीता के अनुसार जैसे शरीर तथा आत्मा एक ही भासते हैं, परन्तु एक दूसरे से पृथक् हैं, एक दूसरे से विशिष्ट हैं, भिन्न हैं, वैसे जगत् तथा परमात्मा एक ही भासते हैं, परन्तु एक दूसरे से पृथक् हैं, एक दूसरे से विशिष्ट हैं। ईश्वर, जीव तथा जगत्- इन तीनों के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत है कि ये तीनों एक होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं, भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के साथ इस प्रकार बँधे हुए हैं, एक दूसरे से विशिष्ट हैं जैसे शरीर तथा आत्मा की अलग-अलग अनुभूति होते हुए भी इनकी एक ही अनुभूति होती है।

जैसे जीव शरीर को सम्भालता है वैसे ईश्वर जीव को सम्भालता है, जीव के भीतर ईश्वर का निवास है, परमात्मा आत्मा के भीतर मौजूद है और भीतर से ही उसका नियमन करता है। यही कारण है कि ईश्वर की जब जीव पर कृपा होती है तब उसका उद्धार होता है।

तभी कहा है- **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया-** ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ उनका संचालन कर रहा है; तभी कहा है- **'मद्याजी मां नमस्कुरु'**- मेरा ही यजन कर, मुझे नमस्कार कर; तभी कहा है- **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**- सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण ले। गीता से पूर्व वैदिक काल से ही उपासना या भक्ति योग का विषय वैदिक साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल तथा चतुर्थ अध्याय में उपासना या भक्ति विषय वर्णन इस रूप में मिलता है-

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुति॥ ऋग् 4.4.24.1

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उसमें से कुछ संक्षेप से यहाँ भी लिखा जाता है। (युञ्जते

मनः) इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी चाहिए अर्थात् उपासना के समय सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें। जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े बुद्धिमान, उपासना योग को ग्रहण करने वाले हैं वे, सबको जानने वाला, सबसे बड़ा तथा सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसी में अपने मन को स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत का धारण और विधान करता है, जो सब जीवों के ज्ञान तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है उससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। अब उपासना किस रीति से करनी चाहिए उसके विषय में बताते हैं-

जब मनुष्य ईश्वर की उपासना करना चाहे तब वह एकांत अनुकूल स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करे तथा सब मनुष्यों और मन को सच्चिदानंद आदि लक्षण वाले अन्तर्यामी, सर्वव्यापक और न्यायकारी परमात्मा में अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक चिंतन करके उसमें अपनी आत्मा को नियुक्त करे। फिर उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना को बार-बार करके अपनी आत्मा को उसमें लगा दे। जिस प्रकार जल के प्रवाह को एक ओर से रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चलकर कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रूकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। सब जीवों के मन में पाँच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। पहली क्लिष्ट अर्थात् क्लेश देने वाली तथा दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेश न देने वाली। उपासना करने वाले व्यक्ति को अपने व्यवहार काल में चित्त को प्रसन्न रखने के लिए मैत्री आदि की भावना करनी चाहिए।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगदर्शन 1.33)

अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबके साथ मित्रता करना, दुखियों पर कृपादृष्टि रखना, पुण्य आत्माओं के साथ प्रसन्नता तथा पापियों के साथ उपेक्षाभाव रखना। तत्पश्चात् योगदर्शन की रीति से प्राणायाम का अभ्यास करना तथा यमनियमादि आठ योग के अंगों का अनुष्ठान करके अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। कठोपनिषद् में उपासना विषय के बारे में निम्न प्रमाण मिलता है-

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥1॥ कठोपनिषद् वल्ली. 2। मं0 24॥

यह उपासना योग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कर्मों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं बनाता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता तब तक कितना ही पढ़े या सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्या चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥2॥ (मुण्ड. 1। खं2। मं. 11)

जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप निवास करते हैं। जो लोग अधर्म को छोड़कर धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, वे सब दोषों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं अर्थात् पूर्ण पुरुष अविनाशी परमेश्वर को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहते हैं। कठोपनिषद् में ब्रह्म की उपासना के विषय में जो प्रसंग आया है, उसी प्रकार का प्रसंग गीता के अष्टम अध्याय में भी वर्णित है-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ गीता 8.11

वेद के जानने वाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपद को अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपद को चाहने वाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस परमपद को मैं तेरे लिये संक्षेप से कहूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ गीता 8.12

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ गीता 8.13

सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मन के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणा में स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ गीता 8.14

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

● 2.1.3 - Hatha yoga Theory :

■ B. हठयोग का सामान्य परिचय—

यद्यपि पुराणवचनों को प्रमाण माना जाय तो इस हठयोग-विद्या के पठन का अधिकार मनुष्यमात्र को है। वे कहते हैं— “इस हठयोगविद्या के अध्ययन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं स्त्री—सभी का समान अधिकार है। यह सब को पवित्र करने वाला, सब की चित्तवृत्ति को शान्त करने वाला कर्म है। संसार से विमुक्त होने के लिए जिज्ञासु के सम्मुख ऐसा अन्य कोई उपाय नहीं है।”

याज्ञवल्क्य भी कहते हैं— “शास्त्रविधि के अनुसार आचरण वाले, कामसङ्कल्पों से रहित, शास्त्रोक्त यम एवं नियमों के लक्षणों से युक्त, समस्त सांसारिक सङ्गों से दूर, विद्यावान्, क्रोधजयी, सत्य एवं धर्मपूर्वक आचरण वाले, गुरुसेवारत, माता-पिता के पोषक, स्वकीय आश्रमानुसार दैनिक आचरण वाले, सदाचारी जिज्ञासु को ही इस हठयोग विद्या का उपदेश करना चाहिए। शिशनोदरपरायण, सांसारिक भोगों में आसक्त एवं पाषण्डी पुरुष को इस विद्या का उपदेश कथमपि नहीं करना चाहिए।”

योगियों का आधार स्तम्भ हठयोग—

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।

अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः॥ (ह.यो.प्र.-1.10)

समस्त तापों का शामक तथा सम्पूर्ण योगों के साधक को मठ-कमठ रूप में वर्णित किया जा रहा है। ताप तीन प्रकार के होते हैं, जैसे— आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। इन तापों से तप्त मानव के लिए हठयोग एक मठ (आश्रयस्थल) के समान है।

उक्त तीन तापों से त्राण दिलाने वाला केवल हठयोग ही होता है। जिस प्रकार सूर्य की प्रखर रश्मियों से परितप्त मनुष्य को घर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार योग-सम्पन्न पुरुष के लिए हठयोग ही एकमात्र आधार-स्तम्भ होता है।

हठयोग का अर्थ सामान्यजन जबरदस्ती किया जाने वाला अर्थात् शरीर की शक्ति के विपरीत लगाकर किया जाने वाला योग के अर्थ में जानते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है। 'हठ' शब्द का अर्थ शास्त्रों में प्रतीकात्मक रूप से लिया गया है। हठयोग की परिभाषा देते हुए योग के ग्रन्थों में कहा गया है कि -

‘हकार कीर्तितः सूर्यस्य ठकार चन्द्र उच्यते।

सूर्या चन्द्रमसौयोगाद् हठयोगो निगद्यते॥ (हठयोग प्रदीपिका)

अर्थात्, हठ शब्द 'ह' और 'ठ' दो अक्षरों से मिलकर बना है। इनमें हकार का अर्थ सूर्य स्वर या पिंगला नाड़ी है 'ठकार' का अर्थ चन्द्र स्वर या इड़ा नाड़ी से लिया है। इन सूर्य और चन्द्र स्वरों के मिलन को ही 'हठयोग' कहा गया है। जिससे मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना में प्रवेश कर ऊपर की ओर चलने लगती है। तथा षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर ब्रह्म के साथ एकत्व को प्राप्त होती है। यही आत्मा और परमात्मा तल का मिलन है, इस मिलन से साधक का अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान का उदय होता है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इसलिए इस मिलन की अवस्था को योग कहा गया है। यही हठयोग का वास्तविक अर्थ है।

शरीर मन एवं प्राण को वश में करना हठयोग का लक्ष्य है। क्योंकि शरीर और मन की साधना किये बिना आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हठयोग में इस मिलन को प्राप्त करने के लिए षट्कर्म आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, नादानुसंधान आदि का वर्णन किया गया है। हठयोग प्रदीपिका में मुख्य रूप से चार अंगों का वर्णन किया गया है। जो इस प्रकार है (1) आसन (2) प्राणायाम (3) मुद्रा एवं (4) नादानुसंधान।

घेरण्ड संहिता में हठयोग के साधनों का वर्णन करते हुए कहा गया है-

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।

प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्य सप्तसाधनम्॥

योगाभ्यासी पुरुष को सात साधनों का अभ्यास करना चाहिए।

1. शरीर की शुद्धि, 2. शरीर को दृढ़ करना 3. शरीर में स्थिरता लाना, 4. धैर्य की प्राप्ति करना, 5. शरीर को हल्का करना, 6. प्रत्यक्ष करना और, 7. निर्लिप्तता, ये सात साधन किनसे प्राप्त होते हैं। इसका वर्णन करते हुए 'घेरण्ड संहिता' में कहा गया है।-

‘षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।

मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।

साधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः॥” (घेरण्ड संहिता 1/10-11)

अर्थात् षट्कर्मों के द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। आसनों से शरीर दृढ़ होता है। मुद्राओं से शरीर में स्थिरता आती है। प्रत्याहार से धैर्य की प्राप्ति होती है। प्राणायाम के द्वारा शरीर लघुता को प्राप्त होता है। तथा समाधि से चित्त निर्लिप्त होता है। जिससे अवश्य ही मुक्ति हो जाती है। इसमें कोई संशय नहीं है।

■ C. **मिताहार-**

सुस्निग्धमधुराहारः, चतुर्थाश्विवर्जितः।

भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥ (ह.प्र. 1.58)

हठयोगाभ्यासी साधक को प्रतिदिन स्निग्ध (घृतप्लुत) एवं मधुर आहार मात्रापूर्वक ग्रहण करना चाहिये। उसे चतुर्थाश्विवर्जित आहार ही भागवत्प्रीत्यर्थ जीवन चलाने के लिये ग्रहण करना चाहिये। यही साधक शास्त्र में **मिताहारी** कहलाता है।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं पथ्यं धातुप्रपोषणम्।

मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥ (ह.प्र. 1.63)

देह के लिये पुष्टिकारक, खाने में मधुर, स्निग्ध (घृत आदि) दूध, धातु (रस, रक्त, वीर्य आदि) का वर्धक तथा मन को ग्राह्य (प्रिय लगने वाला) भोजन ही योगी को ग्रहण करना चाहिये। सत्तू, चिउड़ा आदि रुक्ष खाद्य वस्तुओं का उपयोग भोजन में नहीं करना चाहिये।

■ आयुर्वेदानुसार पथ्य-अपथ्य-

गोधूम-शालि-यव-षाष्टिक-शोभनान्नं,

क्षीराज्य-खण्ड-नवनीत-सिता-मधूनि ।

शुण्ठी-पटोलक-फलादिकपञ्चशाकं,

मुद्गादि दिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम्॥ (ह.प्र. 1.62)

गेंहू, चावल, जौ, षाष्टिक (साठ दिन में पक जाने वाले) चावल आदि पवित्र अन्न, दूध, घी, शक्कर (खांड), मक्खन, मिश्री एवं मधु (शहद), सूंठ, परवर (पटोल), फल, पाँच शास्त्रसम्मत शाक, मूंग एवं पवित्र जल-ये खाद्य एवं पेय वस्तुएँ उत्तम योगियों के लिये भोजन में ग्राह्य होती हैं।

शाकं सर्वमचक्षुष्यं चक्षुष्यं शाकपञ्चकम्।

जीवन्तीवास्तुमत्स्याक्षी मेघनाद पुनर्नवा॥ (हठप्रदीपिका- 1.62)

सभी प्रकार के शाक आँखों के लिए अनुकूल नहीं हैं। पाँच प्रकार के पत्ते वाले शाक जो आँखों के लिए लाभदायक हैं, वे ये हैं- जीवन्ती, बथुआ, चौलाई, मेघनाद तथा पुनर्नवा।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-

सौवीर- तैल- तिल- सर्षप- मद्य- मत्स्यान्।

आजादिमांस- दधि- तक्र- कुलत्थ- कोल-

पिण्याकहिङ्गुलशुनादयमपथ्यमाहुः॥ (ह.प्र. 1.59)

-करेला आदि कटुरस वाले, इमली आदि अम्ल रस, मरिच आदि तीक्ष्ण रस, लवण रस, उष्ण प्रकृति वाले पदार्थ, हरे पदार्थ, हरे शाक, कांजी (सौवीर), तैल या तैल से बने पदार्थ, तिल, सरसों, मद्य (आसव, अरिष्ट), मछली का मांस, बकरी आदि का मांस, दही, मट्ठा (छाछ), कुलथी, बेर, तिल के बने लड्डू या रेवड़ी आदि, हींग, लहसुन आदि पदार्थ या इन से बना भोजन योगी के लिये सर्वथा अपथ्यकर (योगाभ्यास में बाधक) कहा गया है।

भोजनमहितं विद्यात् पुनरप्युष्णीकृतं रूक्षम्।

अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्॥ (हठप्रदीपिका- 1.60)

फिर से गर्म किया गया, रूखा, अधिक नमक या खटाई वाला, अपथ्यकारक तथा उत्कट अर्थात् वर्जित शाकयुक्त भोजन अहितकर है। अतः इन्हें नहीं खाना चाहिए।

■ D. योग में बाधक व साधक तत्व-

बाधक तत्व-

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।

जनसंगश्च लोल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति॥ (ह.यो.प्र. 1.15)

अत्याहार- क्षुधा (भूख) की मात्रा से अधिक भोजन करना 'अत्याहार' कहलाता है। इस का त्याग योगी के लिए परमावश्यक है।

प्रयास- सीमा से अधिक तन, मन एवं वाणी का परिश्रम। यह कृत्य हठयोगाभ्यासी के लिए त्याज्य ही है।

प्रजल्प- मात्रा से अधिक भाषण या संवाद (बातचीत)। इसे 'बहुभाषण' भी कहते हैं।

नियमग्रह- इतरसम्प्रदायानुमोदित कुछ नियमों के पालन में दुराग्रह करना; जैसे-(क) शीतल जल से ही स्नान करना,

(ख) प्रातःकाल ही स्नान करना, (ग) भोजन में केवल फल या दूध या कोई एक ही अन्न ग्रहण करना आदि नियमों का दृढ़ता से पालन करने का आग्रह। ये कृत्य भी योगसाधना में बाधक ही माने गये हैं।

जनसङ्ग— निरर्थक पुरुष आदि की सङ्गति। इस कृत्य से हठयोगी के चित्त में काम, क्रोध, राग, द्वेष, लोभ, मोह, अहङ्कार आदि विकार उत्पन्न होकर उस की इस साधना में विघ्न ही पहुँचायेंगे। उन का इस साधना में सहायक होना तो असम्भव है। अतः योगी को इस कृत्य से भी दूर ही रहना चाहिए।

लौल्य— इन्द्रियों की चपलता को 'लौल्य' कहते हैं। प्राणियों की दश इन्द्रियाँ होती हैं। इन दशों इन्द्रियों में से किसी एक में या सब में चपलता आने से साधक की बुद्धि एवं मन की स्थिरता नष्ट हो जाती है। इस स्थैर्यनाश से भी साधक की साधना में विघ्न-बाधा उपस्थित होना अवश्यम्भावी है।

अतः साधक साधना में विघ्नकारक इन छह कृत्यों को सर्वथा त्याग दे।

योग में बाधक तत्व (योगदर्शनानुसार)—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-

भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ (योगदर्शन-1.30)

व्याधि-धातु, रस इन्द्रियों की विषमता, स्त्यान-सत्कर्मों में अप्रीति, संशय-एक विषय में दो प्रकार का परस्पर भिन्न ज्ञान, प्रमाद-समाधि के साधनों का आचरण न करना, आलस्य- शरीर या चित्त के भारीपन के कारण योगाभ्यास में प्रवृत्त न होना, अविरति- वैराग्य का अभाव अर्थात् विषयों में राग, भ्रान्तिदर्शन- विपरीत ज्ञान, अलब्धभूमिकत्व-समाधि की प्राप्ति न होना, अनवस्थितत्व-समाधि प्राप्त होने पर भी पुनः चित्त का स्थिर न होना, ये चित्त को विक्षिप्त करने के कारण चित्त के विक्षेप या योग के अन्तराय या विघ्न कहे जाते हैं। इन विक्षेपों के साथ ही उत्पन्न होने वाले कुछ विक्षेप और भी हैं-

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। (योगदर्शन-1.31)

दुःख-आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक, दौर्मनस्य-इच्छापूर्ति न होने पर चित्त का क्षोभ, अङ्गमेजयत्व-अंगों का कंपन, श्वासप्रवास-प्राणायाम करते समय इच्छा के विरुद्ध श्वास का अन्दर व बाहर निकलना, ये सब विक्षेप उपरोक्त विघ्नों के साथ ही योग करने वाले साधकों के जीवन में प्रायः आया करते हैं। इनको हटाने के लिए किसी एक तत्व का अभ्यास (ब्रह्मतत्व का अभ्यास) करने का निर्देश महर्षि पतंजलि देते हैं।

साधक तत्व—

उत्साहात्साहसाद्धैयात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।

जनसंगपरित्यागात्सङ्घिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥ (ह.यो.प्र.-1.16)

उत्साह— "मैं विषयों की ओर दौड़ते हुए अपने चित्त को रोकूँगा ही"—ऐसे सङ्कल्पयुक्त उद्यम को 'उत्साह' कहते हैं।

साहस— किसी कार्य के विषय में उस की साध्यता एवं असाध्यता पर विचार कर उस की साध्यता जान कर उस में सहसा (तत्काल) साधक की प्रवृत्ति 'साहस' कहलाती है।

धैर्य— जीवन में कभी न कभी तो यह कार्य पूर्ण होगा ही—इस प्रकार का स्थिर विश्वास (अखेद) ही 'धैर्य' कहलाता है।

तत्त्वज्ञान— ये समस्त सांसारिक विषयभोग असत् (मिथ्या) हैं तथा एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है— साधक का ऐसा ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यही 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है।

निश्चय— सम्बद्ध शास्त्र तथा गुरुपदेश में श्रद्धा एवं विश्वास रखते हुए कार्य का प्रारम्भ करना 'निश्चय' कहलाता है।

जनसङ्ग का परित्याग— इस योगशास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध विचार रखने वाले विचारकों एवं अनाचारी दुष्टजनों के सङ्ग का परित्याग ही 'जनसङ्गपरित्याग' कहलाता है।

शास्त्रकार साधक को आश्वस्त करते हैं कि इन उपर्युक्त छह गुणों के आचरण के साथ की गयी योगसाधना अवश्य फलप्रद होती है।

■ E. षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान, समाधि
(हठयोग प्रदीपिका के अनुसार)—

षट्कर्म-

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।

अन्यस्तु नाचरेत् तानि, दोषाणां समभावतः॥ (ह.यो.प्र. 2.21)

यदि कोई हठयोगाभ्यासी शरीर से स्थूल है, उसकी श्लेष्मा मेदोधातु बढ़ी हुई है तो ऐसे साधक को शरीर से श्लेष्मा की निवृत्ति हेतु प्राणायामाभ्यास से पूर्व अपने शरीर पर षट् कर्मों का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिये। अन्य (साधारण शरीर वाले) साधक के लिये षट्कर्मों का प्रयोग आवश्यक नहीं है।

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।

कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥ (ह.यो.प्र. 2.22)

षट् कर्मों के नाम-उन छह कर्मों के क्रमशः ये नाम हैं- 1. धौति, 2. वस्ति, 3. नेति, 4. त्राटक, 5. नौलि एवं 6. कपालभाति।

कर्मषट्कमिद गोप्यं घटशोधनकारकम्।

विचित्रगुणसन्धायि पूज्यते योगिपुङ्गवैः॥ (ह.यो.प्र. 2.23)

षट् कर्मों का महत्त्व-इन छह कर्मों को गुप्त (एकान्त) स्थान में बैठकर ही करना चाहिये; क्योंकि ये शरीर के मलशोधन कारक हैं। इन कर्मों के सम्पादन से शरीर में विविध प्रकार के गुण (अच्छाइयाँ) प्रकट होने लगते हैं। अतः सभी प्राचीन योगिराजों ने भी इन छह कर्मों की प्रशंसा की है।

1. धौति-

चतुरङ्गलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।

गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्॥ (ह.यो.प्र. 2.24)

चार अंगुल चौड़ा एवं पन्द्रह हाथ लम्बा उष्ण जल में भीगा हुआ कोई मृदु वस्त्र लेकर हठयोगाभ्यासी साधक, गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से, मुख से शनैः शनैः निगलता हुआ उदर में पहुँचावे। तथा वहाँ से शनैः शनैः निकाले (प्रत्याहरण करे)। इस कर्म को योगिजन धौतिकर्म कहते हैं।

प्लीहकुष्ठं कासश्वासं कफरोगाश्च विंशतिः।

धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः॥ (ह.यो.प्र. 2.25)

स्थूल शरीर वाले साधक द्वारा धौतिकर्म करने से उसके शरीर के कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ एवं 20 प्रकार के कफ रोग निश्चित ही नष्ट हो जाते हैं।

2. वस्ति-

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।

आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥ (ह.यो.प्र. 2.26)

कोई साधक, पुरुष की नाभि तक डूबने योग्य जल में (स्थित होकर) उत्कट आसन से (उकडू) बैठ कर गुदा मार्ग में बांस की नाली डाल कर उससे अपने उदर में जल खींचे (आकुञ्चन) करे। उससे उदर का प्रक्षालन कर पुनः उसको उदर से बाहर निकाल दे। इसे वस्तिकर्म कहते हैं।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।

वस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलाभयाः॥ (ह.यो.प्र. 2.27)

साधक द्वारा यह जल-वस्तिकर्म उचित विधि द्वारा करने से उसके गुल्म, प्लीहा, जलोदर एवं वात पित्त कफ से जन्य अन्य समस्त रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

3. नेति-

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।

मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते॥ (ह.यो.प्र. 2.29)

कोई साधक एक बालिशत (बित्ता) लम्बा मृदु एवं श्लक्ष्ण (मुलायम एवं चिकना) सूत्र लेकर अपनी नासिका के छिद्र में प्रविष्ट कर मुख से निकाले-इस कर्म को सिद्धजन नेतिकर्म कहते हैं।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।

जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥ (ह.यो.प्र. 2.30)

यह नेतिकर्म साधक के कपाल (मस्तिष्क) को निर्मल (शुद्ध) कर देता है। साधक के नेत्र दूर तक देखने में समर्थ हो जाते हैं, साधक के कन्धों के उपरिभाग को सुदृढ़ कर देता है। तथा उसके रोगों को शीघ्र नष्ट कर देता है।

4. त्राटक-

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः

अश्रुसम्पातपर्यन्तम् आचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ (ह.यो.प्र. 2.31)

एकाग्रचित्त होकर कोई साधक निश्चल (अपलक) दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य (लघु वस्तु) को तब तक देखता रहे, जब तक कि उसके नेत्र अश्रुप्लावित न हो जायँ-सिद्ध जनों द्वारा यह कर्म त्राटक कहा गया है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्

यत्नतस्त्राटकं गोष्यं यथा हाटकपेटकम्॥ (ह.यो.प्र. 2.32)

यह त्राटक कर्म नेत्ररोग आदि का नाशक है, तन्द्रा आलस्य आदि का तिरस्कर्ता (विघातक) है। अतः इस त्राटक कर्म को उसी प्रकार गुप्त रखना चाहिये जैसे कोई पुरुष अपनी सुवर्णपेटिका को सुरक्षित (सबसे छिपाकर) रखता है।

5. नौलि-

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।

नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते॥ (ह.यो.प्र. 2.33)

यदि कोई साधक अपने कन्धों को नवा (नीचा) कर उदर को वाम एवं दक्षिण की ओर शीघ्रता के साथ घुमावे तो उसकी इस क्रिया को सिद्धयोगी नौलि कर्म कहते हैं।

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादिसन्धायिकानन्दकरी सदैव।

अशेषदोषामयशाषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥ (ह.यो.प्र. 2.34)

पाचकाग्नि में तीव्रता लाना, भुक्त अन्न को पचाना, शरीर को सदा सुखमय स्थिति में रखना, उदर के समस्त रोगों को नष्ट करना-ये सब हठयोग क्रिया के शिरोमणिभूत इस नौलिकर्म के विशेष गुण हैं।

6. कपालभाति-

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेच-पूरौ ससम्भ्रमौ।

कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी॥ (ह.यो.प्र. 2.35)

हठयोगाभ्यासी के जिस कर्म में लोहकार के चर्ममय भस्त्रायन्त्र (भाथी = धोंकनी) के समान वेगयुक्त रेचक एवं पूरक (प्राणायाम) क्रिया की जाये, उस कर्म को योगिजन कपालभाति कर्म कहते हैं। इस कपालभाति क्रिया का लाभ यह है कि इसके अभ्यासी योगी के शरीर में स्थित 20 प्रकार के कफरोग पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं।

आसन-

1. स्वस्तिकासन
2. गोमुखासन
3. वीरासन
4. कूर्मासन
5. कुक्कटासन

6. उत्तानकूर्मासन
7. धनुरासन
8. मत्स्येन्द्रासन
9. पश्चिमतान आसन
10. मयूरासन
11. सिद्धासन
12. पद्मासन
13. सिंहासन
14. भद्रासन
15. शवासन

प्राणायाम—

यद्यपि हठ प्रदीपिका में प्राणायाम इस संज्ञा का उल्लेख करके कोई प्राणायाम नहीं बताया लेकिन षटक्रियाओं में जो विधि है वहाँ 'क्रिया' या 'कर्म' संज्ञा दी है। लेकिन महर्षि पतञ्जलि ने इन्हीं क्रियाओं को प्राणायाम की संज्ञा दी है—श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः अर्थात् आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास लेने व छोड़ने की स्वाभिमान गति का विच्छेदन होना प्राणायाम है।

सूर्यभेदन— दाहिने नथुने बाहरी वायु को धीरे-धीरे अन्दर खींचकर उसे जब तक हो सके अधिकाधिक निरोध करें और फिर बायें नथुने से धीरे-धीरे श्वास को छोड़े। (हठप्रदीपिका 2.49)

उज्जायी— मुख को बन्द कर दोनों नथुनों से वायु को कुछ आवाज के साथ धीरे-धीरे इस प्रकार लेना चाहिए, जिसे कण्ठ से लेकर हृदय प्रदेश तक इसके स्पर्श का अनुभव हो। (हठप्रदीपिका 2.51)

सीत्कारी— मुख से सीत्कार (सी-सी की आवाज) करते हुए पूरक करना चाहिये और रेचक केवल नासिका से ही करनी चाहिये। (हठप्रदीपिका 2.54)

शीतली— जीभ के द्वारा वायु अन्दर खींचकर पहले की तरह कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए, पश्चात् धीरे-धीरे नासिका छिद्रों द्वारा वायु का रेचन करना चाहिये। (हठप्रदीपिका 2.57)

भस्त्रिका— मुख को बन्द कर यत्नपूर्वक वायु को थोड़ी आवाज के साथ नाक द्वारा छोड़े, जिससे वायु स्पर्श का अनुभव हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त हो। पश्चात् वायु को हृदयकमल तक वेगपूर्वक आवाज के साथ पूरित करें, फिर छोड़े।

भ्रामरी— वेग से भ्रमर-गुंजार के समान आवाज करते हुए पूरक करना चाहिए। पश्चात् भ्रमरी के गुंजन के समान आवाज करते हुए धीरे-धीरे रेचक करना चाहिए। (हठप्रदीपिका 2.68)

मूर्च्छा— पूरक कर लेने के बाद अति दृढ़तापूर्वक जालन्धर बन्द लगाकर धीरे-धीरे वायु का रेचन करें।

(हठप्रदीपिका 2.69)

प्लाविनी— उदर को पर्याप्त मात्रा में वायु को पूरी तरह भर ले। (हठप्रदीपिका 2.70)

सहित— जब प्राणायाम रेचक और पूरक के साथ किया जाये तब वह सहित कुम्भक कहलाता है।

(हठप्रदीपिका 2.71)

केवल— रेचक पूरक के बिना अपने आप जो वायु का धारण होता है। वह केवल प्राणायाम कहा जाता है।

(हठप्रदीपिका 2.72)

कपालभाति—

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेच-पूरौ ससम्भ्रमौ।

कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी॥ (ह.यो.प्र. 2.35)

हठयोगाभ्यासी के जिस कर्म में लोहकार के चर्ममय भस्त्रायन्त्र (भाथी = धोंकनी) के समान वेगयुक्त रेचक एवं पूरक (प्राणायाम) क्रिया की जाये, उस कर्म को योगिजन कपालभाति कर्म कहते हैं। इस कपालभाति क्रिया का लाभ यह है कि इसके अभ्यासी योगी के शरीर में स्थित 20 प्रकार के कफरोग पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं।

बन्ध-

1. मूलबन्ध-

पाष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥ -हठप्रदीपिका 3.60

एड़ी से सीवनी को दबा कर गुदा का आकुञ्चन करना चाहिए। फिर अपनवायु को ऊपर की ओर खींच कर रखने से मूलबन्ध होता है।

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः॥ -हठप्रदीपिका 3.63

इस मूलबन्ध के द्वारा प्राण और अपान तथा नाद और बिन्दु जब एकरूप हो जाते हैं, तब योग में सफलता मिलती है, इसमें सन्देह नहीं।

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥ -हठप्रदीपिका 3.64

निरन्तर मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण की एकता होती है, मल-मूत्र की अल्पता होती है तथा वृद्ध भी युवक हो जाता है।

2. जालन्धर बन्ध-

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।

बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥ -हठप्रदीपिका 3.69

कण्ठ को संकुचित कर हृदय में चिबुक को दृढ़तापूर्वक लगावें। यह जालन्धर नामक बन्ध बुढ़ापा और मृत्यु को दूर करता है।

बध्नाति हि शिराजालमधोगामिनभोजलम्।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः॥ -हठप्रदीपिका 3.70

कण्ठसम्बन्धी रोगसमूहों को नष्ट करने वाला यह जालन्धरबन्ध नाड़ी समूहों को बांधता है अतः नीचे की ओर जाने वाले सोमस्राव को रोकता है।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।

ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥ -हठप्रदीपिका 3.74

इसी प्रक्रिया से प्राण, लय (ब्रह्मरन्ध्र) को प्राप्त होता है। तब इससे मृत्यु, बुढ़ापा, रोग आदि नहीं होते हैं।

3. उड्डियान बन्ध-

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥ -हठप्रदीपिका 3.54

चूँकि सुषुम्ना के अन्दर निरुद्ध प्राण इसके द्वारा उठाया जाता है, इसीलिए योगी लोग इसे उड्डीयान नाम से अभिहित करते हैं।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।

उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥ -हठप्रदीपिका 3.56

उदर को नाभि के ऊपर, नीचे और पीछे की ओर खींचें। यह उड्डीयान-बन्ध मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।

उड्डीयाने दृढे बद्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्। -हठप्रदीपिका 3.59

सभी बन्धों में उड्डीयान-बन्ध श्रेष्ठ है। उड्डीयान-बन्ध का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर मुक्ति का मार्ग सरल हो जाता है।

मुद्रा-

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्डीयानं मूलबन्धस्ततो जालन्धराभिधः॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्॥ (ह.प्र.3.6)

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन। हठ प्रदीपिका में ये दस मुद्राएं बताई गई हैं।

प्रत्याहार-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन-2.54)

इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना 'प्रत्याहार' कहलाता है, इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियां निरुद्ध हो जाती हैं, इतर इन्द्रिय जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार मधु मक्खियों की रानी के उड़ने पर मधुमक्खियाँ उड़ती हैं, बैठने पर बैठती हैं उसी प्रकार इन्द्रियां चित्त के निरोध होने पर निरुद्ध होती हैं, यह 'प्रत्याहार' है।

ध्यान-

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन-3.2)

जिस स्थान में धारणा की हुई है उसी स्थान में ज्ञेय-विषयक ज्ञान का एक समान बना रहना अर्थात् ज्ञेय विषयक ज्ञान से भिन्न ज्ञान को उपस्थित न करना 'ध्यान' है। उस (धारणा विषयक) प्रदेश में ध्येय रूपी आलम्बन वाले ज्ञान की एकरूपता (ज्ञान का) एक समान प्रवाह अर्थात् दूसरे ज्ञान से अमिश्रित ज्ञान प्रवाह 'ध्यान' कहलाता है।

समाधि-

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।

तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥ (ह.प्र. 4.5)

जैसे नमक पानी में मिल जाने से उसके साथ एकरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा और मन की एकरूपता समाधि कही जाती है।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।

तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते॥ (ह.प्र. 4.6)

-जब प्राण क्षीण मन्द होकर चित्त में लीन हो जाता है तब दोनों की एकरूपता हो जाने को समाधि कही कहते हैं।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।

प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते॥ (ह.प्र. 4.7)

-जीवात्मा और परमात्मा दोनों की एकरूपता और समता हो जाने पर इच्छामात्र का अभाव हो जाता है और वही समाधि कही जाती है।

❖ Section : 3. Applications of Yoaga (Human Anatomy, Physiology and Psychology)

3.1 Human Anatomy Physiology

a. A brief information about the major systems in the body

Musculoskeletal system

The musculoskeletal system (skeleton + muscles) give protection to soft and important organs. For example, the skull protects the brain, the ribcage protects the heart and lungs. Apart from this muscles are necessary of course necessary for movement.

Respiratory systems

The Respiratory systems [Nose, larynx (sound box), pharynx (first part of the windpipe), trachea (the windpipe), bronchi (air passage), and lungs]. This system is concerned with making the necessary gas (oxygen) available from the air around us, and removing the unnecessary gas (carbon dioxide), as we breathe out.

Nervous system The nervous system (brain, spinal cord, nerves) controls all the other systems. It is concerned with control of the most basic activities such as the beating of the heart and formation of urine, to the most complex such as writing a novel. As a control system the nervous system has to get information both from outside as well as from within the body. This is possible because of special senses (vision-eyes, hearing-ears, touch-skin, taste-tongue, and smell-nose) which give the brain detailed information about the outside world. Similarly, there are sensors which give the brain detailed information about the 'inner world' where our body is positioned in space, how tightly our fingers are clenched, and so on.

Cardio Vascular system

The Cardio Vascular system (heart + blood vessels such as the arteries and veins) is a transport system for the blood. The blood carries essential substance to all the cells so that they can perform their functions. Two essential substances are oxygen and glucose (sugar). The circulatory system also transports waste substance from the cells to other organs, where they are excreted (removed from the body).

Endocrine system

The endocrine system (glands such as pituitary, thyroid, ovaries, and testis) is essential for the normal functioning of the other systems. For example if the thyroid gland functions less efficiently than it should, the person may be mentally slowed down, feel lazy and sluggish gain weight, and be altogether unwell. The endocrine system is also under the control of the brain.



Bone

Excretory system

The excretory system (kidneys, ureters, urinary bladder) is concerned with removal of unnecessary and toxic substances. The skin also helps, by secretion of sweat. Wastes are also removed through digestive and respiratory systems.

The digestive system

The digestive system (mouth, teeth, tongue, pharynx, esophagus, stomach, duodenum, small intestine, large intestine, colon, rectum, liver, gallbladder and pancreas). This system is concerned with breaking up the food which we eat into smaller parts which can enter the blood, and be used to build up the body and provide energy.

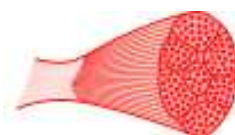
Reproductive system

The reproductive system (glands + reproductive organs) is closely regulated by the endocrine systems, i.e., the ovaries secrete hormones (chemical substances) which cause changes in the uterus during menstruation. In Man reproductive activities are controlled by the brain to a large extent.

b. Evidence based effects of Hatha Yoga practices on different systems of the body

Evidence based benefits of yoga practices on Joints and Bones

1. Yoga program shows therapeutic benefits in osteoarthritis [Cheung C, 2014, BMC Complement Altern Med, 18;14:160].
2. Complementary therapies (tai chi, acupuncture, yoga, and massage therapy) can reduce pain and improve function in adults with OA [Shengelia R, 2013, Pain Manag Nurs, 14(4):e274-88].
3. Iyengar Yoga along with conventional therapy provides better results in chronic unilateral knee osteoarthritis in terms of pain and functional disability [Nambi GS, 2013, Int J Yoga, 6(2):123-7].
4. Yoga can be beneficial in the management of rheumatologic diseases, especially osteoarthritis of the knee, hip and hand, and rheumatoid arthritis [Uhlir T, 2012, Best Pract Res Clin Rheumatol, 26(3):387-98].
5. Integrated approach of yoga therapy is better than physiotherapy exercises as an adjunct to transcutaneous electrical stimulation and ultrasound treatment in reducing pain, morning stiffness, in patients with OA knees [Ebnezar J, 2012, Int J Yoga, 5(1):28-36].
6. Yoga improves range of motion in shoulder abduction, horizontal shoulder extension, lumbar spine flexion, hip flexion, hip extension, and knee flexion [Gonçalves LC, 2011, Arch Gerontol Geriatr, 53(2):158-62].
7. Hatha yoga therapy is better than therapeutic exercises as an adjunct to transcutaneous electrical stimulation and ultrasound treatment in improving walking pain, range of knee flexion, walking time, tenderness, swelling, crepitus, and knee disability in patients with OA knees [Ebnezar J, 2012, J Altern Complement Med, 18(5):463-72].
8. Yoga shows greater improvement in osteoarthritis of the hands and carpal tunnel syndrome in pain [Garfinkel M, 2000, Rheum Dis Clin North Am, 26(1):125-32].
9. 8 weeks yoga program was effective in providing relief in hand OA [Garfinkel MS, 1994, J Rheumatol, 21(12):2341-3].
10. Yoga postures can contribute to extreme strain on spines with bone loss [Sinaki M, 2013, Pain Pract, 13(1):68-75].



Muscle fiber

11. Magnetic resonance imaging showed that long-term practitioners of yoga studied had significantly less degenerative disc disease than a matched control group [Jeng CM, 2011, Eur Spine J, 20(3):408-13].
12. The weigh-bearing yoga training had a positive effect on bone by slowing down bone resorption which was a very essential indicator for human health because it reduced the osteoporosis risks in the postmenopausal women [Phoosuwan M, 2009, J Med Assoc Thai, 92 Suppl5:S102-8].

Evidence based benefits of yoga practices on muscles

1. *High Chaturanga asana, Low Chaturanga asana* and *Adho Mukha Svanasana* are effective for strengthening external abdominal muscle, *Utkatasana* and *Virabhadrasana* poses for targeting gluteus muscle, and *Utkatasana* and *Ardha Uttanasana* for strengthening back muscle. And these three muscles could be strengthened by the *Urdhwa Mukha Svanasana* [Ni, 2004, Complement Ther Med;22(2):235-43].
2. Yoga can improve muscle strength and endurance in the elderly [Fan, 2011, Int Psychogeriatr;23(8):1222-30; Vogler, 2011, Int J Yoga Therap;(21):61-72].
3. Yoga can improve peripheral muscle strength in cancer survivors [Yađlý, 2015, Integr Cancer Ther;14(2):125-32].
4. High frequency yoga breathing (*kapalabhati*) can improve grip strength [Telles, 2014, Indian J Physiol Pharmacol;58(1):22-9].
5. Suryanamaskar can improve muscle strength [Bhutkar, 2011, Asian J Sports Med;2(4):259-66].
6. Yoga can decrease musculoskeletal discomfort [Telles, 2009, Work;33(3):297-306].
7. Yoga can improve hand grip strength [Madanmohan, 2008, Indian J Physiol Pharmacol;52(2):164-70].
8. Yoga training and a single bout of yoga appear to attenuate peak muscle soreness in women [Boyle, 2004, J Strength Cond Res;18(4):723-9].
9. Yoga can improve hand grip strength in rheumatoid arthritis patients [Dash, 2001, Indian J Physiol Pharmacol;45(3):355-60].
10. Yoga can improve respiratory muscle function in institutionalized frail older adults [Iranzo, 2014, J Geriatr Phys Ther;37(2):65-75]



Heart

Evidence based benefits of yoga practices on cardiovascular system

1. Alternate nostril yoga breathing increases the heart rate variability and reduces systolic and diastolic blood pressure in normal healthy volunteers. { Telles, S. 2014. Med Sci Monit Basic Res 19;20:184-93}.

2. Alternate nostril yoga breathing reduces systolic and diastolic blood pressure in patients with essential hypertension. {Telles, S. 2013. [Med Sci Monit](#). 21;19:61-6}.
3. Bhastrika pranayama (respiratory rate 6/min) reduces blood pressure with a slight decrease in heart rate. {Pramanik, T. 2009. [J Altern Complement Med](#) 15(3):293-5}.



Brain

4. Bhramari pranayama (respiratory rate 3/min) decrease systolic and diastolic blood pressure. {Pramanik, T. 2010. [Nepal Med Coll J](#) 12(3):154-7.}
5. Kapalabhati (**respiratory rate 2 Hz**) increases sympathetic activity. {Raghuraj, P. 1998. [Indian J Physiol Pharmacol](#). 1998 Oct;42(4):467-72}
6. Kapalabhati (**respiratory rate at 1Hz**) withdraws vagal activity. {Telles, S. 2011. *Biopsychosoc Med* 13;5:4}.
7. Headstand (Sirsasana) increase sympathetic activity. {Manjunath, N,K. 2003. *Indian J Physiol Pharmacol*.47(1):34-42.
8. Sarvangasana practice reduces resting heart rate and left ventricular end-diastolic volume (LVEDV). {Konar, D. 2000. *Indian J Physiol Pharmacol*. 44(4):392-400.
9. Meditation (dhyana) reduces sympathetic activity and increase vagal activity. {Telles, S. 2013. *J Altern Complement Med* 19(1):35-42
10. Following meditation, a significant reduction in mean arterial blood pressure was noted. {[Steinhubl, S.R.](#) 2015. [Front Hum Neurosci](#). 2015 Mar 18;9:145}.

Evidence based benefits of yoga practices on brain

1. Bhastrika pranayama reduces reaction time of the practitioners [Telles, 2013, *Percept Mot Skills*;117(1):1131-40].
2. Both kapalabahati and breath awareness can improve fine motor skills and visual discrimination, with a greater magnitude of change after kapalabhati [Telles, 2012, *Int J Yoga*;5(1):37-41].
3. Alternate Nostril Breathing has a balancing effect on the functional activity of the left and right hemisphere [[Stancák](#), 1994, *Int J Psychophysiol*;18(1):75-9].
4. Bhramari pranayama enhances response inhibition and cognitive control [Rajesh, 2014, *Int J Yoga*;7(2):138-41].
5. Meditation leads to activation in brain areas involved in processing self-relevant information, self-regulation, focused problem-solving, adaptive behavior, and interoception [Boccia, 2015, *Biomed Res Int*;2015:419808].
6. Body-mind relaxation meditation induction helps patients construct reappraisal strategies that can modulate the brain activity in multiple emotion-processing systems [Chen, 2015, *J Affect Disord*;183:75-82].
7. In older person, yoga improves memory performance (McDougall et al., 2015).
8. Yoga improves primary working memory [Laverestsky, 2013, *Int J Geriatr Psychiatry*;28(1):57-65].
9. In older person, yoga improves sleep (Manjunath, 2004, *Indian J Physiol Pharmacol*;48(3):353-6].

10. Yoga induces positive mental state (Wood, 1993, J R Soc Med;86(5):254-8].
11. Yoga improves GABA level which decrease anxiety and depression level [Streeter, 2007, J Altern Complement Med;13(4):419-26].
12. Yoga practice was found positively correlated with grey matter volume which is associated with the promotion of neuroplastic changes in executive brain systems (Froeliger, 2012, Evid Based Complement Alternat Med;2012:821307].



Mental health

Evidence based benefits of yoga for mental health and well-being

1. Comprehensive yoga (including postures, breathing techniques, meditation and relaxation) improves mental health and promotes well-being [Hadi, N., 2007; *Eastern Mediterranean Health Journal*. 13(4): 829-837].
2. Yoga helps in improvements in children's perceived well-being [Berger, D.L., 2009; *Alternative Therapies In Health And Medicine*. 15 (5): 36-42].
3. Kripalu yoga benefits in psychosocial well-being in students [Noggle, J.J., 2012; *Journal of Developmental & Behavioral Pediatrics*. 33(3): 193-201].
4. Total, general and parental self-esteem improved after yoga in pre-adolescents school children [Telles, S., 2013; *Child and Adolescent Psychiatry and Mental Health*. 7:37].
5. *Kapalabhati pranayama* improves attention [Telles, S., 2008; *Indian journal of medical sciences*. 62(1): 20-22].
6. *Anuloma-viloma pranayama* increases spatial memory [Naveen, K.V., 1997; *Psychological Reports*. 81(2): 555-561].
7. Right and alternate nostril yoga breathing improves focused and selective attention and increases visual scanning ability [Telles, S., 2007; *Perceptual and Motor Skills*. 104(3 Pt 2): 1289-1296].
8. Following *bhastrika pranayama* reaction time decreases [Bhavanani, A.B., 2003; *Indian Journal of Physiology and Pharmacology*. 47(3): 297-300].
9. Breathing through the left nostril increases performance in a spatial cognitive task [Joshi, M., 2008; *Indian Journal of Physiology and Pharmacology*. 52(2): 197-200].
10. *Bhastrika pranayama* reduces impulsivity and inhibits unnecessary responses [Telles, S., 2013; *Perceptual and Motor Skills*. 117(1): 89-98].

11. Yoga practice reduces physiological signs of mental stress (e.g., a reduced skin resistance value, reduced heart and breath rates with rhythmic breathing) in children [Telles, S., 1997; *Perceptual and Motor Skills*. 84(1): 251-257].
12. Yoga is effective in reducing anxiety [Kuttner, L., 2006; *Pain Research Management*. 11(4): 217-223].
13. The integrated yoga is an efficacious means of improving the quality of life of pregnant women and enhancing certain aspects of their interpersonal relationships [Rakhshani, A., 2010; *Quality of Life Research*. 19(10): 1447-1455].
14. Yoga is valuable in helping to achieve relaxation and diminish stress, and increases the quality of life in cancer patients [Ülger, Ö., 2010; *Complementary Therapies in Clinical Practice*. 16(2): 60–63].
15. Yoga improves work performance by relieving tension and job stress at the workplace [Gura, S.T., 2002; *Work*. 19: 3–7].
16. Yoga can be considered as a complementary therapy in the treatment of anxiety disorders in women [Javnbakht, M., 2009; *Complementary Therapies in Clinical Practice*. 15(2): 102–104].
17. Short term yoga based life-style intervention leads to remarkable reduction in the anxiety [Gupta, N., 2006; *Indian Journal of Physiology and Pharmacology*. 50(1): 41–47].

c. The benefits of various *asanas* on different parts of the human body

Sirsasana

- The practice of the headstand in a traditional way (without any support) and those who used the support of the wall (a present day adaptation), had an increase in the power of the low frequency component (LF) and a decrease in the high frequency component (HF) of the HRV spectrum, increased LF/HF ratio, and decreased heart rate [Manjunath NK, 2003, *Indian J Physiol Pharmacol*; 47(1):34-42].

Group of postures

- Following yoga *asanas* (*Surya Namaskar, Trikonasana, Tadasana, Sukhasana, Padmasana, Bhastrika Pranayama, Pashimottanasana, Ardhamatsyendrasana, Pawanmuktasana, Bhujangasana, Vajrasana, Dhanurasana and Shavasana*), a significant decrease in waist-hip ratio and changes in insulin levels were observed suggesting a positive effect of yoga *asanas* on glucose utilisation and fat redistribution in Non-insulin-dependent diabetes mellitus (NIDDM). Yoga *asanas* may be used as an adjunct with diet and drugs in the management of Type 2 diabetes [Malhotra V, 2005, *Nepal Med Coll J*; 7(2):145-7].
- Following four sets of *asanas*: (I) *dhanurasana + matsyendrasana*, (II) *halasana + vajrasana*, (III) *naukasana + bhujangasana*, and (IV) *setubandhasana + pavanamuktasana*, an increased sensitivity of the B cells of pancreas to the glucose signal was reported [Manjunatha S, 2005, *Indian J Physiol Pharmacol*; 49(3):319-24].
 - Following 2 months of both conventional (symptomatic treatment with loperamide 2-6 mg/day) and yogic intervention which includes *Vajrasana, Shashankasana, Ushtrasana, Marjariasana*,

Padhastasana, Dhanurasana, Trikonasana in two variations, Pawanmuktasana, and Paschimottanasana along with *Surya Nadi pranayama* two times/day a significant decrease of bowel symptoms and state anxiety was reported. This was accompanied by an increase in electrophysiologically recorded gastric activity in the conventional intervention group and enhanced parasympathetic reactivity measured by heart rate parameters, in yogic intervention group. The study indicates a beneficial effect of yogic intervention over conventional treatment in diarrhea-predominant IBS [Taneja I, 2004, Appl Psychophysiol Biofeedback; 29(1):19-33].

Limitations and contra-indications of yoga practices

1. Yoga postures (*asanas*) should be practiced under the supervision of an experienced yoga teacher.
2. Yoga postures (*asanas*) should be avoided if you are too tired as it can lead to injury.
3. *Asanas* should not be performed after recent surgery.
4. The beginners should avoid staying too long in a static positions.
5. Persons suffering from cervical spondylitis should not practice those *asanas* (yoga postures) which involves forward bending.
6. Persons suffering from backache should avoid *Bhujangasana, Markatasana*, with both legs, *Ardh-Halasana*, and *Sirsasana*.
7. Persons suffering from heart disease should not practice *Dvicakrikasana* (leg circling pose).
8. Persons having hypertension should avoid inverted postures such as *Sirsasana, Sarvangasana* etc and should perform forward bending asana such as *Padahastasana* with caution.
9. Persons having varicosities in the legs should avoid performing *Padmasana*.
10. *Bhastrika pranayama* should not be practice with high blood pressure, coronary artery disorder, recent chest or stomach surgery.
11. *Kapalabhati pranayama* should be avoided in recent chest or stomach surgery, high blood pressure, epilepsy, ulcer, internal bleeding, menstrual period and pregnancy
12. Persons having low and high blood pressure, headache and migraine should not do *Bahya pranayama*
13. *Agnisar pranayama* should not be done in summer and by persons having heart disease, high blood pressure, hernia, asthma, and ulcer

14. Introvert people should avoid practicing *Ujjayi pranayama*.
15. *Bhramari pranayama* should be practice without breath retention in heart disease, ear infection and tinnitus.
16. *Udgeeth pranayama* should not be practice by persons having sore throat and stretch in the vocal cords.
17. *Sheetali pranayama* should not be practice during winter season.
18. *Sheetkari pranayama* should not be practiced by persons having low blood pressure and bronchial asthma
19. Obese person should not practice *Chandra bhedi pranayama*
20. *Suryabhedi pranayama* should not be practice by persons having heart disease, epilepsy, high blood pressure
21. *Nadishuddi pranayama* should be avoided by persons having mental disorder

● 3.3 Yogic Diet-

■ 3.A त्रिगुण- (आयुर्वेदानुसार)

आयुर्वेद के अनुसार सभी द्रव्यों में कुछ गुण पाये जाते हैं, जिनके माध्यम से ये शरीर पर अपनी क्रिया करते हैं। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में विभिन्न द्रव्यों में विद्यमान गुणों का उल्लेख किया गया है। ये गुण मुख्यतः 20 हैं, जो 10 जोड़ों में होते हैं। ये जोड़े आपसी विरोध के कारण बनते हैं, क्योंकि इनमें प्रत्येक का एक विरोधी गुण भी है। ये निम्नलिखित हैं।

1. गुरु (heavy), 2. लघु (Light) 3. मन्द (dull) 4. तीक्ष्ण (pungent) 5. स्निग्ध (oily, greasy) 6. रूक्ष (dry) 7. शीत (cold) 8. उष्ण (hot) 9. श्लक्ष्ण (gummy) 10. खर या खुरदरा (rough) 11. सान्द्र या ठोस (solid) 12. द्रव (liquid) 13. मृदु या कोमल (soft) 14. कठिन या कठोर (hard) 15. सूक्ष्म (subtle) 16. स्थूल (bulky) 17. स्थिर (stable) 18. सर या चल (tremulous) 19. विशद (चिपचिपाहट का अभाव) (non-mucilaginous)

पिच्छिल या चिपचिपा (mucilaginous) ये सब गुण द्रव्यों में भौतिक दृष्टि से पाये जाते हैं। अलग-अलग द्रव्यों का सेवन करने के पश्चात् शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके आधार पर ही इन गुणों का निश्चय किया जाता है। जैसे-यदि कोई पदार्थ हाथ में उठाने से भारी या गुरु लगता है, तो उस आधार पर हम उसे गुरु नहीं कह सकते। उसका गुरुत्व या लघुत्व तो पाचन में लगने वाले समय पर निर्भर करता है। जो पदार्थ देर से पचते हैं, वे गुरु और जो शीघ्र पचते हैं, वे लघु हैं। इसी प्रकार राई स्पर्श में शीतल होने पर भी गुण की दृष्टि से उष्ण है, क्योंकि यह रस और रक्त के ताप को बढ़ाती है।

द्रव्यों के ये गुण उनमें विद्यमान प्रमुख महाभूतों के आधार पर पाये जाते हैं। जैसे-जिस द्रव्य में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है, वह गुरु गुण वाला होता है, जबकि जिस द्रव्य में आकाश महाभूत की प्रधानता होती है, वह लघु गुण वाला होता है। पहले भी बताया जा चुका है कि द्रव्यों में विद्यमान रस और गुण के आधार पर उसका शरीर पर क्या कर्म या प्रभाव होगा, इसका अनुमान लगाया जाता है। केवल रस के आधार पर द्रव्य के गुणों का पूर्णतया

अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

■ 3.A त्रिगुण- (योग व सांख्य के अनुसार)

प्रकाशशीलं सत्त्वम्- प्रकाशः आलोकः (बुद्ध्यादिवृत्तिरूपालोको भौतिकालोकश्च- यो.वा.) शीलं यस्य तत् (द्रव्यम्) सत्त्वम्=प्रकाश या चमक ही स्वभाव है जिसका, वह पदार्थ सत्त्वगुण है। क्रियाशीलं रजः- क्रिया यत्नः चलनं शीलं यस्य तत्=क्रियाशील या चलनात्मक पदार्थ रजोगुण है। और स्थितिशीलं तम इति स्थितिः प्रकाशक्रिययोः स्थगनं शीलं स्वभावः यस्य तत्, प्रकाश और क्रिया का स्थगित हो जाना 'स्थिति' है। इस प्रकार की स्थिति ही स्वभाव है जिसका, वह तमोगुण है। 'एते गुणा एव प्रकृतिशब्दवाच्याः न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्तीत्यवधारयति 'एते गुणा' इति।' इन गुणों का वस्तुतः द्रव्यरूप होने पर भी पुरुष का बन्धन, रज्जु रूप होने के कारण इन्हें 'गुण' कहते हैं। 'प्रकृति' नाम का कोई द्रव्य इनसे अलग नहीं है, जिसमें कि ये रहते हैं, यह स्मरण रखना चाहिए। 'गुणाः पुरुषस्य बन्धनरज्जव इत्यर्थः सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न तानि द्रव्याश्रयागुणाः तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य गुणितोऽभावादिति वेदितव्यम्।

ये तीनों गुण परस्पर मिले हुए या संसृष्ट अंशों वाले, पुरुष से संयुक्त और विभक्त होने के लक्षण वाले हैं। इससे 'पुरुष' के बँधने और मुक्त होने के व्यपदेश का व्याख्यान हो जाता है। एक दूसरे की सहायता से अपना-अपना शरीर धारण या प्रकट कर सकने वाले ये तीनों परस्पर अंगी और अंग बनते हैं, इसलिये अंगांगीभाव होने पर भी अपनी-अपनी क्षमता को अलग-अलग (अमिश्रित) बनाये रखने वाले सजातीय और विजातीय कार्यों के प्रति यथास्थिति उपादान और सहकारी कारणता की शक्ति वाले अपने-अपने अंगित्व-काल में अपनी सन्निधि अर्थात् अपना स्वरूप प्रकट करने वाले हैं अभिप्राय यह है कि इन गुणों की पूर्ण स्वरूपाभिव्यक्ति तभी होती है, जब किसी कार्य में ये अंगी होते हैं। और जब इनमें से कोई गुण किसी कार्य में अंगी नहीं होता, तब उसका उस कार्य में प्रत्यक्षदर्शन नहीं होता। फिर भी अंगी के रूप में ही उसकी सत्ता अन्तर्भावित रहती है और सहकारी रूप में उसके व्यापारमात्र से अनुमति होती है। इन गुणों के गौण रूप में रहने पर भी सहकारी कारण के कार्यभूत व्यापारमात्र से अंगी में अन्तर्भावित होने से अनुमीयमान सत्ता वाले होते हैं। पुरुष के भोगापवर्गरूप कार्य को करने वाले होने के कारण अभिव्यक्त होने की क्षमता वाले संयोगमात्र से पुरुष का उपकार करने वाले चुम्बक के समान ये तीनों गुण होते हैं। 'ते च द्रष्टा सहालिप्ता अपि तत्सान्निध्यादेवोपकारिणोऽयस्कात्तमणित्।'

अपनी अभिव्यक्ति से अतिरिक्त दशा में किसी एक अंगी गुण के व्यापार का अनुवर्तन करने वाले 'प्रधान' के नाम से अभिहित होते हैं। इनसे भिन्न 'प्रधान' कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें यह रहते हों इसलिये ये गुण न तो प्रकृति में रहने वाले धर्म हैं, न वैशेषिक लक्षण वाले गुण और न प्रकृति के कार्य, प्रत्युत साक्षात् ये ही 'प्रधान' नामक पदार्थ हैं। 'साम्यावस्था च न प्रकृतिलक्षणे विशेषणमपितु यदा कदाचित् सम्बन्धेनोपलक्षणं काकवन्तो देवदत्तस्य गृहम् इतिवत्, सा च न्यूनाधिकभावेनासंहननावस्था अकार्यावस्थेति यावत्, तदुपलक्षितगुणत्वञ्च प्रकृतिलक्षणं महदादिव्यावृत्तम्। तेन सर्गकालेऽपि गुणानां प्रकृतित्वापेपत्त्या न प्रकृतिनित्यताक्षतिः। यह गुणत्रय ही। 'दृश्य' कहा जाता है।

■ 3 B. सात्विक शाकाहारी आहार के आध्यात्मिक कारण-

(सात्विक शाकाहार के परिपेक्ष्य में)

यह व्यष्टि व समष्टि त्रिगुणात्मक है। प्रकाश क्रिया- स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्-यह सम्पूर्ण दृश्य भौतिक अस्तित्व प्रकाश, क्रिया व स्थिति स्वभाव वाला भोग व अपवर्ग मुक्ति के लिए है। सत्त्व गुण का धर्म है प्रकाश, रजोगुण का स्वभाव है क्रियाशीलता तथा तमोगुण का कारण स्थिति-विश्राम, अवस्थान निद्रा या ठहराव की स्थिति में मनुष्य व मनुष्येतर जड़ चेतन का अस्तित्व अनुभव में आता है। ज्ञान, श्रम व विश्राम ये प्रकृति के मूल स्वभाव व लक्ष्य हैं।

आत्मा के दो स्वरूप होते हैं- एक मुक्त आत्मा, जो शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार के बन्धन को पार हो चुका है, वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला, पूर्ण सुखमय, पूर्ण शान्तिमय, ज्ञानमय व आनन्दमय है तथा दूसरा बद्ध आत्मा जो शरीर, इन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय के साथ जुड़ा हुआ या संयुक्त है। हम जब तक मुक्त नहीं हो जाते तब तक बद्ध आत्मा की श्रेणी में ही हैं। इस शरीर आत्मा में प्रकाश सबसे ऊपर होना चाहिए उसके नीचे क्रिया, गतिशीलता, कर्म, प्रवृत्ति सेवा व पुरुषार्थ तथा उसके नीचे स्थिति, विश्रान्ति या तमोगुण। सार या संक्षेप में कहें तो सत्वगुण से प्रकाशित होना चाहिए हमारा श्रम व विश्राम। शरीरात्मा रजोगुण व तमोगुण से मुक्त नहीं हो सकते हैं तो भी हम सत्वगुण को जीवन में सर्वोच्च स्थान पर रखें, उसका अनुपात अधिक होना चाहिए। अतः हमारा आहार सात्विक ही होना चाहिए। क्योंकि आहार ही इस हमारे भौतिक शरीर, इन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय के आधार, रॉमैटरियल या मूलस्रोत हैं।

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः। स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (उपनिषद्)

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-17.7)

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं, उनके इस पृथक्-पृथक् भेद को तू मुझसे सुन।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं पथ्यं धातुप्रपोषणम्।

मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् (ह.प्र. 1.63)

जो सुपाच्य, रसयुक्त, मधुर, चिकना, शरीर को सम्पूर्ण पोषण देने वाला व मन को प्रसन्नता देने वाला आहार है वह सात्विक है जिसमें, किसी के साथ हिंसा, अन्याय व शोषण हो, वह सात्विक आहार नहीं होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा। (भगवद्गीता)।

सात्विक आहार के सन्दर्भ में आयुर्वेद व भगवद् गीता तथा हठप्रदीपिका में विस्तार से कहा गया है।

अतः जो शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ, वैचारिक या भावनात्मक दृष्टि से पूर्ण स्पष्ट तथा आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण ज्ञानमय, सुख व शान्तिमय जीवन जीना चाहते हैं, उनको सात्विक शाकाहार ही लेना चाहिए। सात्विक आहार व विचार वाले साधक, योगी व एक सामान्य व्यक्ति के समस्त कर्म व उसका पूरा जीवन सत्व से प्रकाशित रहेगा, ऐसा व्यक्ति स्वयं सुखी, समृद्ध व शान्तिमय होगा तथा इस समष्टि के सुख, समृद्धि व शान्ति के लिए भी पूर्ण पवित्रता व दिव्यता से पुरुषार्थ करेगा। मांसाहार में अहिंसा, न्याय, प्रेम, करुणा वात्सल्य व मैत्री आदि सह अस्तित्व के सिद्धान्तों की हानि होने से वह यौगिक सात्विक आहार की श्रेणी में नहीं आता।

■ 3. C. यौगिक सात्विक आहार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-

हम सब भली-भाँति जानते हैं कि स्वास्थ्य के लिए भोजन का विशेष महत्व है। भोजन में क्या-क्या खाया जाए, जहाँ इस बात का महत्व है, वहाँ यह भी जानना बहुत महत्व रखता है कि भोजन किस प्रकार और किन परिस्थितियों में किया जाए? इन सब बातों पर विचार कर तदनु रूप आचरण करके हम भोजन से पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। भोजन के सन्दर्भ में आयुर्वेदानुसार कुछ महत्वपूर्ण तथ्य निम्नलिखित हैं-

विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते।

न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि॥ (क्षेमकुतुहलम्)

अर्थात् औषधि के बिना भी रोग केवल पथ्य-सेवन से दूर हो जाता है। परन्तु यदि रोगी द्वारा अपथ्य छोड़कर पथ्य-सेवन न किया जाए, तो सैकड़ों दवाओं से भी रोग नष्ट नहीं हो सकता।

स्निग्ध भोजन— हमारे भोजन में भी घी, तेल आदि प्राकृतिक स्निग्ध द्रव्य उचित मात्रा में होने चाहिए आजकल हृदय रोग, ब्लड प्रेशर और मोटापे आदि के डर से प्रायः लोग घी आदि का प्रयोग बिल्कुल न करके रूखा भोजन करते हैं, यह सर्वथा अनुचित है, क्योंकि जहां घी, तेल आदि से भोजन स्वादिष्ट बनता है और रूचि उत्पन्न होती है, वहीं भोजन मुलायम भी बनता है। इससे पाचक अग्नि तीव्र होती है, भोजन सुपाच्य बनता है, बल व आयु की वृद्धि होती है, इन्द्रियां दृढ़ बनती हैं और रंग में निखार आता है। घी आदि स्निग्ध पदार्थों के सेवन से वात का अनुलोमन होता है और मुलायम भोजन के सेवन को उत्तम माना है।

ताजा और गर्म भोजन— भोजन हमेशा ताजा और गर्म होना चाहिए। ऐसा भोजन स्वादिष्ट होने के साथ-साथ पाचक, अग्नि को बढ़ाने वाला, सुपाच्य और वात का अनुलोमक होता है। यह पौष्टिक भी होता है, जबकि बासी और ठण्डा भोजन भारी, तामसिक और अपौष्टिक होता है। आयुर्वेद के अनुसार आहार को फ्रिज आदि में रखकर बाद में गर्म करके खाना उचित नहीं है, न ही प्रिजर्वेटिव्स (Preservatives) आदि पदार्थ डालकर भोजन को सुरक्षित रखने और डिब्बाबन्द पेय, केक, पेस्ट्रीज आदि के सेवन को उचित माना है। आज दुनिया में महामारी की तरह बढ़ते हुए मोटापे का कारण भी जंक फूड, फास्ट फूड व डिब्बा बन्द फूड है; इस विषय में हम सब को ध्यान देना चाहिए; क्योंकि दुनिया में अधिकांश रोग अनुचित आहार-सेवन से ही उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों में प्राकृतिक (फल, जूस) एवं ताजा बने भोजन के सेवन को उत्तम माना है।

भोजन की सुन्दरता— भोजन का रंग, गन्ध, स्वाद तथा स्पर्श रूचिकर होना चाहिये और देखते ही भोजन के प्रति रुचि का अनुभव होना चाहिए। इस प्रकार दूसरे पाचक रसों का स्राव भी अनुकूल रूप से होता है। अतः भोजन में रूचि बढ़ाने के लिए भोजन और पात्रों का स्वच्छ, सुन्दर और आकर्षक होना आवश्यक है। रोगी के लिए तो इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि निरन्तर एक प्रकार का पथ्य भोजन खाने से उसमें अरुचि उत्पन्न हो सकती है।

सुन्दर और एकान्त स्थान— भोजन के साथ-साथ उसके सेवन के लिए स्थान भी साफ-सुथरा, सुन्दर, आकर्षक और एकान्त होना चाहिए, परन्तु यदि उस स्थान पर अन्य लोग हों तो सभी लोग साथ में भोजन करने वाले होने चाहिए। पवित्र और सुन्दर स्थान में मन शान्त रहता है; जबकि गंदे और अपवित्र स्थान पर बैठने से मन में अशान्ति होती है। इसका भोजन के पाचन पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। भोजन-सेवन की क्रिया को एक पवित्र, धार्मिक अग्निहोत्ररूप क्रिया समझ कर करना चाहिए। भोजन करते समय बातें करने, टेलीविजन देखने, टेलीफोन सुनने आदि से दूर ही रहना चाहिए।

मानसिक दशा— भोजन हमेशा शान्त और प्रसन्न मन से ग्रहण करना चाहिए। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, घबराहट, डर आदि की दशा में जहां भोजन का स्वाद नहीं आता, वहीं पाचक रसों का स्राव भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। अतः भोजन करते समय किसी प्रकार की अप्रिय चर्चा नहीं करनी चाहिए और न ही सुननी और देखनी चाहिए।

भोजन का उचित समय— **कालभोजनम्-आरोग्यकरणाम्** (चरक-संहिता, सूत्रस्थान-25.40), समय पर भोजन करना आरोग्य के लिए श्रेष्ठ उपाय है। भोजन के ठीक प्रकार से पाचन के लिए आवश्यक है कि इसका सेवन ठीक और नियत समय पर किया जाए। उचित समय पहचानने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। जब भूख का अनुभव हो, पहले किया गया भोजन अच्छी तरह से पच चुका हो, जब हृदय और पेट में भारीपन न हो, वात का अनुलोमन हो जाए एवं मल-मूल का त्याग हो चुका हो, तब भोजन करना चाहिए। अन्यथा पूर्व भोजन का अधपचा रस और किये जा रहे भोजन का रस आपस में मिलकर सभी दोषों को कुपित कर देंगे और रोगों की उत्पत्ति होती। पित्तवृद्धि के समय-मध्याह्न (12 से 2 बजे तक के समय) में भोजन किया जाए तो इससे भोजन शीघ्र और अधिक अंश में पचता है। परिणामतः शरीर अधिक पुष्ट होता है।

भोजन का सात्व्य— पूरे पोषक-तत्त्व प्राप्त करने के लिए भोजन का सेवन संतुलित मात्रा में करना चाहिए। भोजन के बाद पेट का एक तिहाई भाग खाली रहना चाहिए, जिससे पाचक रस और कफ भोजन के साथ अच्छी तरह मिल कर उसका पाचन कर सकें और वात की गति भी ठीक प्रकार से हो सके। भोजन के पश्चात् यदि पेट में दबाव व भारीपन और पार्श्वों में तनाव न हो, छाती में रुकावट और भारीपन न हों, भूख-प्यास शान्त हो, उठने-बैठने, सोने, चलने, हँसने, श्वास लेने और छोड़ने, एवं बातचीत करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो तो समझना चाहिए कि भोजन की मात्रा

उचित है।

भोजन चबाकर खाना— सबसे पहले भोजन मुख में जाता है, जहाँ इसमें लालास्राव (Saliva) मिलता है। भोजन को दाँतों से जितना अधिक चबाया जाता है, उतना ही अधिक उसमें लार का स्राव मिल जाता है। इससे ठोस पदार्थ द्रव रूप में बदल जाता है तथा भोजन की पाचन क्रिया सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत, ठीक प्रकार न चबाने से ठोस व कठोर पदार्थ ही निगल लिये जाते हैं। इनको आमाशय आदि कोमल अंग समुचित रूप से मुलायम नहीं बता पाते। परिणामस्वरूप, एक तो आमाशय आदि अंगों को अधिक मेहनत करनी पड़ती है, जिससे वे कमजोर हो जाते हैं; दूसरे भोजन का पाचन पूरी तरह से नहीं हो पाता और अजीर्ण, कब्ज, गैस जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः चबा कर मुलायम किया हुआ ही भोजन निगलना चाहिए।

भोजन का सात्म्य— सात्म्य का अर्थ है— अनुकूलता। एक पदार्थ किसी एक व्यक्ति के लिए लाभकारी हो सकता है, तो दूसरे के लिए प्रतिकूल (असात्म्य) और हानिकारक भी हो सकता है। यह ज्ञान मुनष्य को अपनी प्रकृति और अनुभव के आधार पर ही हो सकता है। भोजन से पूरे पोषक-तत्त्व प्राप्त करने के लिए अनुकूल भोजन का सेवन ही उचित है, जबकि प्रतिकूल पदार्थ लाभ के स्थान पर हानि पहुँचा सकते हैं। भोजन की अनुकूलता (सात्म्यता) निम्नलिखित प्रकार की है।

देहसात्म्य— जो पदार्थ व्यक्ति के शरीर के लिए उपयोगी होता है।

देशसात्म्य— किसी विशेष स्थान में अनुकूल पदार्थ, जैसे बंगाल, मद्रास, केरल, कश्मीर में रहने वालों के लिए चावल (भात) सात्म्य है।

ऋतुसात्म्य— विशेष मौसम में हितकर पदार्थ, जैसे— शिशिर ऋतु में तिक्त और रूक्ष पदार्थ सात्म्य होते हैं तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल पदार्थ।

रोगसात्म्य— किसी विशेष रोग में हितकारक पदार्थ, जैसे सर्दी-जुकाम में अदरक, शहद आदि।

■ 3. D. यौगिक सात्विक आहार के शारीरिक व मानसिक लाभ—

सात्विक, संतुलित व सम्पूर्ण आहार ही यौगिक आहार है। संसार में सब लोग सात्विक आहार नहीं कर रहे हैं, इसलिए एक बात को हम पूर्णदृढ़ता के साथ कहना चाहते हैं कि दुनियाँ में जो लोग राजसिक व तामसिक आहार ले रहे हैं वे शारीरिक दृष्टि से अधिक रोगी व मानसिक दृष्टि से दुःखी, अशान्त व अवसाद में डूबे हैं।

मांसाहार व शाकाहार में भी कुछ राजसिक व तामसिक भोज्य पदार्थ हैं, जो इनका अधिक सेवन करते हैं यह स्पष्ट रूप से दिखता है कि उनके शरीर व मन की एक आदर्श स्थिति नहीं होती है। तामसिक व राजसिक आहार करने वाले व्यक्ति भी थोड़े बहुत सुखी व स्वस्थ इसलिए दिखाई देते हैं क्योंकि ये लोग मांसाहार तामसिक व राजसिक आहार के साथ, फल, शाक सब्जियाँ, सलाद व दूध आदि सात्विक आहार का भी सेवन करते हैं।

यदि मांसाहारी लोग इन सात्विक पदार्थों का सेवन न करें और वे केवल मांसाहार ही करें तो एक सप्ताह या एक दो माह में इनका जीवन संकट में आ जायेगा। अतः हम निष्कर्ष के रूप में कुछ निर्णायक तथ्यों पर पहुँचते हैं।

- (1) सात्विक, संतुलित, सम्पूर्ण यौगिक आहार मनुष्य मात्र के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।
- (2) मोटापा, कैंसर, बी.पी, शुगर, ऑटो इम्युनडिजीज जैसे खतरनाक शारीरिक रोगों तथा चिन्ता, तनाव, अशान्ति व गहरे अवसाद का मुख्य कारण मांसाहार तामसिक व राजसिक आहार ही है। शाकाहारी पूर्ण स्वस्थ, सुखी व शान्तिमय जीवन जी सकता है।
- (3) सशरीर चलते-फिरते जीवों की हत्या करके उनके जीने का मौलिक व नैसर्गिक मूलभूत अधिकार छीनकर क्रूरता से उन जीवों की हत्या करके हम प्राकृतिक न्याय, प्रेम, मैत्री, करुणा व सह अस्तित्व के योग के मूलभूत अधिकारों का हनन करते हैं। यह अन्याय, हिंसा क्रूरता व बर्बरता योग ही नहीं सामान्य मानवीय दृष्टिकोण से भी

किसी भी तरह स्वीकार नहीं हो सकती, इसे हम उचित नहीं ठहरा सकते हैं।

- (4) यौगिक आहार लेने वाले व्यक्ति का शरीर, विचार व जीवन पूर्ण शुद्ध एवं सात्विक होता है, वह व्यक्ति सृष्टि के संतुलन को नहीं बिगाड़ता व किसी भी अन्य के मूल अधिकारों का हनन या अतिक्रमण नहीं करता वह सह अस्तित्व, सात्विक सुख, सात्विक समृद्धि व सबके सुख, शान्ति व समृद्धि के विचार व संस्कार वाला होता है। अतः सम्पूर्ण स्वास्थ्य, निरोगी, उपयोगी व सहयोगी जीवन के लिए यौगिक आहार ही एक मात्र पूर्ण व वैज्ञानिक आहार है।

दिन में दो बार योग करने के लिए सात्विक आहार के लाभ—

जब हम फल या फलों का जूस अथवा सात्विक शाक सब्जियां या सलाद आदि का सेवन करते हैं, शाकाहारी व मिताहारी होते हैं, तो दिन में दो बार भी योग कर सकते हैं क्योंकि फल सलाद व लौकी, तोरी व टिंडा आदि उबली हुई सब्जियों का 2 से 4 घंटों में पाचन हो जाता है और हमारा पेट व मन बहुत ही हल्का व स्फूर्ति वाला होता है। मांसाहार तामसिक व राजसिक आहार जल्दी नहीं पचता अतः दुबारा योग नहीं कर सकते। कैंसर, मधुमेह, मोटापा, पेट के रोग, हृदय रोग व मेरुदण्ड के रोग होने पर रोगियों को दिन में दो बार योग कराने से अधिक लाभ होता है और यह दो बार योग सात्विक आहार से ही संभव है।

■ 3.4 PSYCHOLOGY

श्रीमद्भगवद्गीता व योगशास्त्रानुसार मनोविज्ञान—

योगशास्त्र व गीता में मानवीय अस्तित्व के सूक्ष्म घटकों की या पहलुओं के बारे में अत्यन्त गंभीर विवेचना की है। जैसे एक भौतिक वैज्ञानिक सृष्टि के भौतिक सूक्ष्मतरंग परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड के बड़े-बड़े रहस्यों का उद्घाटन करता है वैसे ही योगेश्वर श्रीकृष्ण व महर्षि पतंजलि ने मनुष्य के स्थूल दृश्य व स्थूल देह से लेकर अदृश्य मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार की अत्यन्त सूक्ष्म व सम्पूर्ण विवेचना की है। इस मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक सत्य को हम निष्कर्ष के रूप में कुछ इस प्रकार समझ सकते हैं—

- (1) हमारे अस्तित्व के मुख्य रूप से दो घटक हैं— एक भौतिक दूसरा अभौतिक। दृश्य रूप में पंचभूतात्मक शरीर, दश इन्द्रियां व अन्तःकरण चतुष्टय यह हमारा भौतिक-अस्तित्व या व्यक्तित्व है। हमारा यह भौतिक-व्यक्तित्व सत्व, रज व तमरूप प्रकृति से बना है और प्रकृति के मूल गुणों का प्रभाव हमारे व्यक्तित्व पर संतुलित व असंतुलित रूप में देखने को मिलता है। व्यक्ति या व्यक्तित्व का विकास इसी रूप में स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति अपनी भौतिक-शारीरिक व मानसिक-संरचना को ठीक से समझे और भगवान् के विधान व व्यवस्था से मनुष्य को जो असीम ज्ञान, शक्ति व सामर्थ्य तथा पूर्ण स्वाधीनता या स्वतंत्रता मिली हुई है, उसका उपयोग अपने व संसार, समाज, समष्टि या सह-अस्तित्व के सुख, शान्ति व समृद्धि के लिए करे, इसे ही उभय समृद्धि, सात्विक-समृद्धि, सबकी समृद्धि, सबका विकास या अभ्युदय कहा गया है। इसके विपरीत मानव सत्व-गुण को न बढ़ाकर अपने रजोगुण व तमोगुण को बढ़ा लेता है क्योंकि चयन या चुनाव की स्वतंत्रता का अधिकार भगवान् ने इन्सान को दिया हुआ है। अतः इन्सान यदि अशुभ को चयन कर लेता है योग को केन्द्र में नहीं रखता 'योगस्थ कुरु कर्माणि' से हटकर अपने अज्ञान या अविवेक के कारण अपने व जगत् के अस्तित्व को ठीक नहीं समझता तो इस मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न रागद्वेष पूर्ण प्रवृत्ति के कारण स्वयं का तथा समष्टि का अहित करने लगता है तथा क्षणिक आवेगों में बहकर सही व गलत का शुभ-अशुभ, लाभ-हानि, धर्म-अधर्म व दुःखादि का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता और तात्कालिक व दीर्घकालिक परिणाम की सोच किये बिना ही मनुष्य अज्ञान के कारण अपनी व संसार की हानि करने पर उतर जाता है। अतः प्रभु द्वारा प्रदत्त भौतिक-प्राकृतिक वैभव, विभूति, ऐश्वर्य व सामर्थ्य एवं स्वतंत्रता का उपयोग हम सात्विक-सुख, शान्ति व सात्विक समृद्धि के लिए करें ऊपर उठने के लिए यही सच्चा अभ्युदय या सच्ची सात्विक समृद्धि या सात्विक विकास है।

- (2) जहाँ तक हमारे अभौतिक अदृश्य अस्तित्व या व्यक्तित्व का प्रश्न है वह है हमारा आत्मा, जो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला, सदा ही पूर्ण सुखमय, शान्तिमय, ज्योतिर्मय, तेजोमय, आनन्दमय, सभी अपूर्णताओं, सभी प्रकार की दुर्बलताओं, सभी पराधीनताओं व सभी प्रकार के अज्ञान व अभाव से मुक्त, पूर्णकाम है वह है हमारा अपना मूल-स्वभाव, मूल-प्रकृति या मूल-स्वरूप आत्मा। संसार में भ्रान्ति का कारण है पिण्ड में आत्मा तथा ब्रह्माण्ड में परमात्मा प्रकृति के आश्रय या सहयोग से प्रत्यक्ष हो रहा है मनुष्य मिथ्याज्ञान, अल्पज्ञान, या अज्ञान के कारण प्रत्यक्ष को ही सब कुछ समझ लेता है तथा प्रत्यक्ष के मूल में प्रत्यक्ष के पीछे जो मूल सत्य आत्मा व परमात्मा है, उसको भूल जाता है और यही हमारे दुःखों का कारण बन जाता है। इस दुःख के कारण को समझकर इससे मुक्त होना ही मुक्ति मोक्ष या अपवर्ग है। ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए अपने भौतिक-शरीर, इन्द्रियों, अन्तःकरण चतुष्टय या चित्त से उभयसमृद्धि व उभयसुख व शान्ति के लिए या अपने व जगत् के सुख शान्ति समृद्धि के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ करके अपना अभ्युदय सिद्ध करना तथा अन्ततः अपने मूल स्वरूप आत्मस्वरूप को उपलब्ध हो कर अपने निःश्रेयस को सिद्ध करना, इसी में जीवन की पूर्णता है।

शुद्धज्ञान, शुद्धकर्म, शुद्ध उपासना अथवा ज्ञान-योग, कर्म-योग व भक्ति-योग के द्वारा इसी विज्ञान या मनोविज्ञान को गीता में योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट किया है तथा योगशास्त्र में इसे भोग-अपवर्ग अथवा अभ्युदय व निःश्रेयस के रूप में वर्णन किया है। ज्ञान, विवेक या सत्व से युक्त हों हमारी समाप्त प्रवृत्तियाँ अथवा ज्ञान या विवेक पूर्वक हम कर्म करें, प्रेम करें, पुरुषार्थ करें, भौतिक-सुख, समृद्धि अर्जित करें। यही अकाम, निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम होकर ब्रह्मकर्म करना या दिव्य-जीवन जीना ही योग है।

❖ Section : 4. Communication

सैक्शन 4.1 प्रशिक्षण का वातावरण

1. कक्षा का वातावरण

कक्षा स्थल पर स्वच्छता कोई दुर्गन्ध ना हो।

क. ताजी प्रदूषण मुक्त स्वच्छ वायु का प्रवाह जहाँ हो वहाँ योग कक्षा लेना उचित होगा।

ख. बैठने की एवं लेटने की उचित व्यवस्था हो अर्थात् 6X3 का स्थान प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध हो।

ग. कक्षा में मैट बिछे हो अथवा साधक अपने साथ लायें।

घ. मैट सूती हो अथवा कुचालक पदार्थ के बने हो।

ड. वातावरण में कई महत्वपूर्ण बिन्दु शामिल हैं।

यथा तापमान, सामाजिक समरसता, बौद्धिक आधार पर वर्गीकरण एवं आर्थिक आधार पर वर्गीकरण लगभग एक जैसा रहना ज्यादा उचित रहेगा।

4.2. योग ज्ञान एवं उसकी प्रस्तुति की योग्यता

क. पाठ्यक्रम का निर्धारण कक्षा आरम्भ करने से पूर्व यह निर्धारित हो जाना चाहिए।

ख. योग शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित होना चाहिए यथा-

- ◆ शारीरिक
- ◆ बौद्धिक
- ◆ आध्यात्मिक
- ◆ व्यवहारगत
- ◆ समाज के साथ समन्वय
- ◆ समय प्रबन्धन
- ◆ नैतिक जीवन यथा सत्य आदि

योग शिक्षा प्राप्त करने से होने वाले लाभ

- ◆ उचित जीवनचर्या का पालन करना।
- ◆ उचित एवं सात्विक आहार ग्रहण करना।
- ◆ समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए उपयोगी होना।
- ◆ शान्ति, अहिंसा एवं प्रेम एवं सद्भाव को प्रसारित करने वाला।

साधक के जीवन में योग शिक्षण की उपयोगिता

- ◆ योग शिक्षा जीवन में सार्थकता व सम्बन्धों में विश्वास पैदा करती है।
- ◆ योग जीवन को भौतिकवाद से आध्यात्मवाद की ओर अग्रसर करता है।
- ◆ व्यक्ति का जीवन सैद्धान्तिक हो जाता है।
- ◆ योग जीवन में आत्म विश्वास पैदा करता है।
- ◆ योग व्यक्ति को वासना से उपासना की ओर अग्रसर करता है।
- ◆ योग व्यक्ति मात्र की शक्ति का सम्मान करता है।
- ◆ योग व्यक्ति की आंतरिक सुप्त शक्तियों का जागरण करता है।
- ◆ योग व्यक्ति की ऊर्जा का संचार करता है।
- ◆ शारीरिक क्षमताओं का विकास करता है।

शिक्षण में प्रयोग होने वाले उपयोगी प्रशिक्षण क्रियायें।

1. लैक्चर
 2. लैक्चर के साथ-साथ क्रियात्मक रूप से प्रस्तुति करना।
 3. साधक विशेष को समझाना।
 4. सामूहिक रूप से योग प्रशिक्षण करवाना।
 5. प्रशिक्षण की कला।
 6. तकनीकी सहायता यथा पी.पी.टी., प्रोजेक्ट, छाया चित्र इत्यादि।
 7. डायग्राम अथवा चित्रों की प्रदर्शनी के माध्यम से।
 8. टी.वी., वीडियो के माध्यम से।
 9. विभिन्न मुद्राओं अथवा पुस्तक के संदर्भों के माध्यम से।
- 4.2. (ग.) प्रशिक्षण कला में
1. निरीक्षण
 2. निर्देशन
 3. स्पर्श द्वारा उचित आसन की स्थिति का बोध।
 4. क्रियात्मक प्रस्तुति

❖ Section : 5. Sukhshama Vyayama and Shat Karma

● 5.1-षट्क्रिया-

1. कपालभाति-

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेच-पूरौ ससम्भ्रमौ।

कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी॥ (ह.यो.प्र. 2.35)

हठयोगाभ्यासी के जिस कर्म में लोहकार के चर्ममय भस्त्रायन्त्र (भाथी = धोंकनी) के समान वेगयुक्त रेचक एवं पूरक (प्राणायाम) क्रिया की जाये उस कर्म को योगिजन कपालभाति कर्म कहते हैं। इस कपालभाति क्रिया का लाभ यह है कि इसके अभ्यासी योगी के शरीर में स्थित 20 प्रकार के कफरोग पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं।

2. नेति-

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखाग्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते। (ह.यो.प्र. 2.29)

कोई साधक एक बालिशत (बित्ता) लम्बा मृदु एवं श्लक्ष्ण (मुलायम एवं चिकना) सूत्र लेकर अपनी नासिका के छिद्र में प्रविष्ट कर मुख से निकाले-इस कर्म को सिद्धजन नेतिकर्म कहते हैं।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥ (ह.यो.प्र. 2.30)

यह नेतिकर्म साधक के कपाल (मस्तिष्क) को निर्मल (शुद्ध) कर देता है। साधक के नेत्र दूर तक देखने में समर्थ हो जाते हैं, साधक के कन्धों के उपरिभाग को सुदृढ़ कर देता है। तथा उसके रोगों को शीघ्र नष्ट कर देता है।

3. धौति-

चतुरङ्गलविस्तरं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरुपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्॥ (ह.यो.प्र. 2.24)

चार अंगुल चौड़ा एवं पन्द्रह हाथ लम्बा उष्ण जल में भीगा हुआ कोई मृदु वस्त्र लेकर हठयोगाभ्यासी साधक, गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से, मुख से शनैः शनैः निगलता हुआ उदर में पहुँचावे। तथा वहाँ से शनैः शनैः निकाले (प्रत्याहरण करे)। इस कर्म को योगिजन धौतिकर्म कहते हैं।

प्लीहकुष्ठं कासश्वासं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः॥ (ह.यो.प्र. 2.25)

स्थूल शरीर वाले साधक द्वारा धौतिकर्म करने से उसके शरीर के कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ एवं 20 प्रकार के कफ रोग निश्चित ही नष्ट हो जाते हैं।

4. त्राटक-

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तम् आचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ (ह.यो.प्र. 2.31)

एकाग्रचित्त होकर कोई साधक निश्चल (अपलक) दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य (लघु वस्तु) को तब तक देखता रहे, जब तक कि उसके नेत्र अश्रुप्लावित न हो जायँ-सिद्ध जनों द्वारा यह कर्म त्राटक कहा गया है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोष्यं यथा हाटकपेटकम्॥ (ह.यो.प्र. 2.32)

यह त्राटक कर्म नेत्ररोग आदि का नाशक है, तन्द्रा आलस्य आदि का तिरस्कर्ता (विघातक) है। अतः इस त्राटक कर्म को उसी प्रकार गुप्त रखना चाहिये जैसे कोई पुरुष अपनी सुवर्णपेटिका को सुरक्षित (सबसे छिपाकर) रखता है।

5. प्रत्याहार-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन-2.54)

इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना 'प्रत्याहार' कहलाता है, इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियां निरुद्ध हो जाती हैं, इतर इन्द्रिय जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार मधु मक्खियों की रानी के उड़ने पर मधुमक्खियाँ उड़ती हैं, बैठने पर बैठती हैं उसी प्रकार इन्द्रियां चित्त के निरोध होने पर निरुद्ध होती हैं, यह 'प्रत्याहार' है।

● 5.2-सूक्ष्म व्यायाम-

शरीर की सन्धियों को स्वस्थ एवं स्नायु-मण्डल को शक्ति, स्फूर्ति एवं आरोग्य प्रदान करनेवाली सूक्ष्म व्यायाम की निम्नांकित क्रियाएँ हैं :

बैठने की स्थिति दण्डासन में:

विधि: बैठकर किये जानेवाले सभी आसनों को दण्डासन की स्थिति से प्रारम्भ करते हैं। दोनों पैर मिले हुए सामने सीधे रहें। कमर के दोनों ओर हाथों की हथेलियाँ भूमि पर टिकी हुई, अंगुलियाँ पीछे की ओर, हाथ तथा कमर सीधी रहे तथा निम्नलिखित के अनुसार अभ्यास करें।

1. पैर की अंगुलियों के लिए:

दोनों पैरों की अंगुलियों तथा अंगुष्ठों को आगे की ओर धीरे-धीरे बलपूर्वक दबायें। उसी तरह पीछे की ओर भी करें। एड़ियाँ स्थिर रखें। इस प्रकार आठ-दस बार करें।

2. एड़ी एवं पूरे पैर के लिए:

दोनों पैरों को मिलाते हुए पूरे पंजे को एड़ी-सहित धीरे-धीरे आगे एवं पीछे दबायें। आगे-पीछे दबाते समय एड़ी का जमीन पर घर्षण होगा। यह अभ्यास सियाटिका पेन तथा घुटनों के लिए उपयोगी है।

3. पंजों के लिए: दोनों पैरों को थोड़ी दूरी पर रखें। पहले दायें पैर के पंजों को वृत्ताकार घुमाते हुए पंजे से शून्य जैसी आकृति बनायें। इस रीति से पाँच-सात बार इस अभ्यास को दोहरायें। फिर इसको विपरीत दिशा से करें। इसी प्रकार दूसरे पैर और फिर दोनों पैरों को मिलाकर एक साथ करें।

4. घुटने एवं नितम्बों के लिए: (क) दायें पैर को मोड़कर बाईं जांघ पर रखें, बायें हाथ से दायें पंजे को पकड़ें तथा दायें हाथ को दायें घुटने पर रखें। अब दायें हाथ को दायें घुटने के नीचे लगाते हुए घुटने को ऊपर उठाकर छाती से लगायें तथा घुटने को दबाते हुए जमीन पर टिका दें। इसी प्रकार इस अभ्यास को विपरीत बायें पैर को मोड़कर दाईं जांघ पर रखकर पूर्ववत् करें। अन्त में दोनों हाथों से पंजों को पकड़कर घुटनों को भूमि पर स्पर्श करायें और ऊपर उठायें। इस प्रकार कई बार इसकी आवृत्ति करें।

(ख) तितली आसन (बटर फ्लाय) : दोनों पैर घुटनों से मोड़कर पैर के तलवों को आपस में सटाकर जाँघों के जोड़ के पास लायें तथा तितली के पंखों की तरह घुटनों को ऊपर-नीचे चलाते हुए दो मिनट तक क्रिया को दोहरायें। नितम्ब के जोड़ को स्वस्थ करने के लिए तथा वहाँ बढ़ी हुई चर्बी को कम करने के लिए यह अभ्यास उत्तम है। इससे पद्मासन करने में भी सुगमता होगी।

5. घुटनों के लिए: (क) पैरों को सीधा रखते हुए दोनों हाथों को कमर के दोनों साइड में रखें। घुटनों की कपाली को दबाते एवं छोड़ते हुए आकुंचन एवं प्रसारण की क्रिया करें। इसके बाद दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे में डालते हुए घुटने के नीचे जंघा को पकड़ें। फिर पैर को मोड़ते हुए नितम्ब के पास लायें और साइक्लिंग जैसी क्रिया करते हुए पैर से सामने की ओर से शून्य बनायें। इसी तरह विपरीत दिशा के पैर से भी करें।

(ख) सीधे खड़े होकर दोनों एड़ियों को एक साथ सटाते हुए, घुटनों को भी सटायें। दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखकर पहले बायीं ओर फिर दायीं ओर वृत्ताकार पथ पर घुमायें। इस क्रिया को पाँच-सात बार दुहरायें। यह व्यायाम घुटनों के लिए लाभकारी है।

6. पेट तथा कमर के लिए (Grinding): (क) दोनों हाथों की अंगुलियों को एक दूसरे में डालते हुए सामने दोनों पैरों के ऊपर रखें। दायीं ओर से बायीं ओर हाथों को इस तरह से घुमायें कि कमर आगे झुकाते हुए, पैर की अंगुलियों से हाथ छूते हुए वृत्ताकार में घूमें, जब जंघाओं पर हाथ आयें तो कमर को पीछे की ओर झुकायें। पैरों को स्थिर रखें। इसी तरह दूसरी ओर से इस क्रिया को दोहरायें।

(ख) दोनों पैरों को थोड़ा खोलकर सामने फैलायें। दोनों हाथों को कन्धों के समकक्ष सामने उठाकर रखें। फिर दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ें एवं बायें हाथ को पीछे की ओर घुमाते हुए पर्वताकार में ऊपर सीधा रखें, गर्दन को भी बायीं ओर घुमाते हुए पीछे की ओर देखें। इसी प्रकार दूसरी ओर से करें। इन दोनों अभ्यासों से कमर दर्द दूर होता है और पेट स्वस्थ होता है तथा कमर की बड़ी हुई चर्बी दूर होती है; परन्तु जिनको अत्यधिक कमर-दर्द है, वे इन अभ्यासों को न करें।

7. पीठ के लिए: दोनों हाथों से एक दूसरे हाथ की कलाई पकड़कर उपर उठाते हुए सिर के पीछे ले जायें। श्वास अन्दर भरते हुए दायें हाथ से बायें हाथ को दायीं ओर सिर के पीछे से खींचें। गर्दन एवं सिर स्थिर रहें। फिर श्वास छोड़ते हुए हाथों को ऊपर ले जायें। इसी प्रकार दूसरी ओर से इस क्रिया को करें।

8. हाथ की अंगुलियों के लिए: (क) दोनों हाथों को सामने फैलाकर पंजे नीचे की ओर रखते हुए कन्धों के समकक्ष सीधा रखें। फिर अंगुलियों के पोरों को बलपूर्वक धीरे-धीरे मोड़ें और सीधा करें। (ख) इसके पश्चात् अंगूठे को मोड़कर अंगुलियों से दबाते हुए मुक्के जैसी आकृति बनायें, फिर धीरे-धीरे खोलें। इस प्रकार दस-बारह बार करें।

9. पूरे हाथ, सर्वाङ्गकल स्पॉण्डलाइटिस तथा फ्रोजन शोल्डर के लिए: अंगूठे को मोड़कर अंगुलियों से दबाते हुए दोनों हाथों की मुट्टियाँ बन्द करके सामने कन्धे के समानान्तर सीधा रखें तथा मुट्टियों को वृत्ताकार में क्रमशः दोनों ओर घुमायें। कोहनियाँ सीधी रहनी चाहिए।

10. कोहनी के लिए: (क) दोनों हाथों की हथेलियों को ऊपर की ओर करते हुए हाथों को सामने फैलायें। अब कोहनी को मोड़ते हुए अंगुलियों से कन्धों को स्पर्श करें। फिर धीरे-धीरे सीधा करें। (ख) इसी अभ्यास को पार्श्व भागों में (दोनों साइड) हाथों को दोनों ओर कन्धों के समानान्तर फैलाकर भी करें।

11. हार्ट, सर्वाङ्गकल स्पॉण्डलाइटिस एवं शोल्डर दर्द के लिए: (क) दोनों हाथों को मोड़कर कन्धे पर रखें। कोहनियाँ कन्धे के समकक्ष सामने रहें। फिर दोनों कोहनियों को छाती के सामने मिलाते हुए वृत्ताकार में घुमाते हुए, बड़ा शून्य बनायें। यह क्रिया विपरीत दिशा से भी करें।

(ख) दोनों हाथों की मुट्टी बन्द करके छाती के पास इस प्रकार रखें कि अंगुलियों के पीछेवाले भाग आपस में लगे हुए हों। अब श्वास छाती में भरके हाथों को धीरे-धीरे सामने खोलें, परन्तु यह ध्यान रहे कि अंगुलियाँ आपस में ठीक से लगी रहें, पृथक् न हों। हाथों के सामने सीधा होने के पश्चात् श्वास को बाहर निकालते हुए हाथों को छाती के पास ले आयें। इस प्रकार कई बार इसको दोहरायें।

12. गर्दन के लिए:

(क) सीधे बैठकर गर्दन को दायीं ओर घुमाते हुए पहले दायें कन्धे से लगायें। इसी तरह बायें कन्धे से छुएँ। इसके पश्चात् गर्दन को आगे की ओर झुकाते हुए ठोड़ी को छाती से लगायें, फिर धीरे-धीरे पीछे की ओर यथाशक्ति झुकायें। अन्त में गर्दन को वृत्ताकार में दोनों दिशाओं में क्रमशः घुमाना चाहिए।

(ख) दायें हाथ की हथेली को दायीं ओर कान के ऊपर सिर पर रखकर हाथ से सिर को दबायें तथा सिर से हाथ की ओर दबाव डालें। इस प्रकार हाथ से सिर को तथा सिर से हाथ को एक दूसरे के विरुद्ध दबाने से गर्दन में एक कम्पन होता है। इस प्रकार चार-पाँच बार दबाव डालकर बायीं ओर से इस क्रिया को करना चाहिए।

(ग) अन्त में दोनों हाथ की अंगुलियों को एक दूसरे में डालते हुए (इण्टरलॉक करते हुए) हाथों से सिर को तथा सिर से हाथों को दबाना चाहिए। ऐसा करते हुए सिर तथा गर्दन सीधी रहेगी। विरुद्ध दबाव से मात्र एक कम्पन होगा, जो कि गर्दन के आरोग्य के लिए तथा वहाँ पर रक्त-संचार को सुचारु करने के लिए आवश्यक है।

13. आँखों के लिए: गर्दन को सीधा रखकर आँखों की पुतलियों को पहले ऊपर-नीचे और फिर दायें-बायें घुमायें। तत्पश्चात् दायें-बायें गोलाई में घुमायें।

❖ Section : 6. Surya Namaskar and yogasana-

■ 6.1- सूर्य-नमस्कार—

धरती पर ऊर्जा के स्रोत—हवा, पानी, सूर्य आदि में से सूर्य प्रमुख है। इससे प्राणी जगत् विशेषतः ऊर्जित होता है। यह भी वैज्ञानिक रूप में सिद्ध तथ्य है कि प्रातःकाल के उदीयमान सूर्य की किरणों का हमारे शरीर पर विशिष्ट चिकित्सकीय प्रभाव पड़ता है। हमारे पूर्वज मनीषियों ने विशेष शोध व अनुसन्धान के द्वारा पाया कि इस समय अर्थात् प्रातःकालीन बेला में अलग-अलग प्रकार के बारह आसनों का एक विशेष क्रमपूर्वक अभ्यास करने से हमें चौबीस घण्टा ऊर्जा का स्तर बनाये रखने में विशेष सहायता मिलती है। मनीषियों ने इन्हीं बारह आसनों के क्रम को 'सूर्य-नमस्कार' का नाम दिया है, जो अपने आप में एक स्वतन्त्र व पूर्ण व्यायाम है।

वस्तुतः सूर्य-नमस्कार की प्रक्रिया के द्वारा हमारे मनीषियों का हमें प्राकृतिक नियमों के साथ साहचर्य बनाते हुए आरोग्यमय जीवन जीने का यह अद्भुत सन्देश है।

सूर्य-नमस्कार हेतु सामान्य नियम :

सूर्य-नमस्कार की १२ स्थितियों को एक बार पूरा करना एक आवृत्ति (चक्र) कहलाती है। इस प्रकार सूर्य-नमस्कार से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए प्रत्येक दिन कम से कम १० से १५ आवृत्तियों का अभ्यास करना चाहिए। इन १२ स्थितियों को करते वक्त पूरक, कुम्भक व रेचक को ध्यान में रखकर करने से विशेष लाभ मिलता है।

बीमार अवस्था में सूर्य-नमस्कार नहीं करना चाहिए अथवा योग-शिक्षक से परामर्श लेकर ही धीरे-धीरे करना चाहिए। प्रत्येक स्थिति का अभ्यास मानसिक मन्त्रोच्चारणपूर्वक परमात्मा/अल्लाह/गॉड/वाहे गुरु आदि के प्रति मन ही मन नमस्कार/स्मरण तथा कृतज्ञता/धन्यवाद का भाव जगाते हुए, निर्दिष्ट शरीरस्थ चक्र में ध्यान केन्द्रित करते हुए करना चाहिए।

सूर्य-नमस्कार में किये जाने वाले १२ आसनों का क्रम निम्नवत् है—

स्थिति-१

स्थिति का नाम : प्रणामासन या नमस्कार मुद्रा

श्वास : सामान्य

एकाग्रता केन्द्र : अनाहतचक्र

विधि : सूर्योदय के समय सूर्याभिमुख सावधान की स्थिति में खड़े होकर (एड़ी, पञ्जे तथा घुटने परस्पर मिले हुए हों) नमस्कार की स्थिति में हाथों को छाती के सामने रखें। श्वास की गति सामान्य रहेगी।

इस प्रकार हाथों और पैरों को जोड़कर खड़े होने से ऊर्जा के परिपथ का निर्माण होता है। परिणामस्वरूप शरीर शीघ्र ही ऊर्जान्वित हो जाता है।

स्थिति-२

स्थिति का नाम : ऊर्ध्वहस्तासन/हस्तोत्तानासन

श्वास : श्वास लेते हुए

एकाग्रता केन्द्र : विशुद्धिचक्र

विधि : स्थिति १ के बाद श्वास अन्दर भरकर सामने से हाथों को खोलते हुए बिना कोहनियाँ मोड़े पीछे की ओर ले जायें, सिर हाथों के बीच में स्थित रहेगा। श्वास रोककर दृष्टि आकाश की ओर रहे, कमर को भी यथाशक्ति पीछे की ओर झुकायें।

स्थिति-३

स्थिति का नाम : पादहस्तासन

श्वास : श्वास छोड़ते हुए

एकाग्रता केन्द्र : स्वाधिष्ठानचक्र

विधि : स्थिति-२ के बाद श्वास बाहर निकालकर हाथों को पीछे से सामने झुकाते हुए पैरों के पास जमीन पर टिका

दें। यदि हो सके तो हथेलियों को भी पञ्जों के दायें-बायें भूमि से स्पर्श करें तथा सिर को घुटनों से लगाने का प्रयास करें, ध्यान रहे कि किसी भी स्थिति में घुटने न मुड़ें।

स्थिति-४ :

स्थिति का नाम : वाम-अश्वसञ्चालनासन

श्वास : श्वास लेते हुए

एकाग्रता केन्द्र : आज्ञाचक्र

विधि : स्थिति-३ के उपरान्त अब नीचे झुकते हुए हथेलियों को छाती के दोनों ओर टिकाकर रखें। बायाँ पैर उठाकर पीछे से पूरा पञ्जा जमीन पर सटाते हुए तानें, दायीं पैर दोनों हाथों के बीच में रहेगा (इस पैर को सुविधा की दृष्टि से थोड़ा पीछे भी रख सकते हैं; परन्तु एड़ी हर हाल में जमीन को स्पर्श करती हुई हो)। घुटना छाती के सामने रहे, दृष्टि आकाश की ओर हो, श्वास को अन्दर भरकर रखना है।

स्थिति-५ :

स्थिति का नाम : पर्वतासन

श्वास : श्वास छोड़ते हुए

एकाग्रता केन्द्र : विशुद्धिचक्र

विधि : श्वास बाहर निकालकर दायें पैर को भी पीछे ले जायें। गर्दन और सिर दोनों हाथों के बीच में रहे, नितम्ब और कमर ऊपर उठाकर तथा सिर को झुकाकर नाभि को देखने का प्रयास करें।

स्थिति-६ :

स्थिति का नाम : अष्टाङ्गनमनासन/साष्टाङ्गासन/अधोमुखश्वासन

श्वास : श्वास-प्रश्वास सामान्य

एकाग्रता केन्द्र : मणिपूरचक्र

विधि : हाथों एवं पैर के पञ्जों को स्थिर रखते हुए, छाती एवं घुटनों को भूमि पर स्पर्श करें। इस प्रकार दो हाथ, दो पैर, दो घुटने, छाती एवं सिर अथवा ठोड़ी; इन आठों अङ्गों के भूमि पर टिकने से यह साष्टाङ्गासन बनता है। श्वास-प्रश्वास सामान्य रहेगा।

स्थिति-७ :

स्थिति का नाम : भुजङ्गासन

श्वास : श्वास लेते हुए

एकाग्रता केन्द्र : स्वाधिष्ठानचक्र

विधि : श्वास अन्दर भरकर (भुजङ्गासन की आकृति) छाती को ऊपर उठाते हुए हाथों को धीरे-धीरे सीधा कर दें, पीछे से दोनों पैर मिले व तने हुए हों। नाभि तक का भाग भूमि पर टिका हुआ एवं दृष्टि आकाश की ओर हो।

स्थिति-८ :

स्थिति का नाम : पर्वतासन

श्वास : श्वास छोड़ते हुए

एकाग्रता केन्द्र : विशुद्धिचक्र

विधि : श्वास बाहर निकालकर कुल्हों को ऊपर उठायें, गर्दन और सिर दोनों हाथों के बीच में रहे, नितम्ब और कमर ऊपर उठाकर तथा सिर को झुकाकर नाभि को देखने का प्रयास करें।

स्थिति-९ :

स्थिति का नाम : दक्षिण-अश्वसञ्चालनासन

श्वास : श्वास लेते हुए

एकाग्रता केन्द्र : आज्ञाचक्र

विधि : स्थिति-८ के उपरान्त अब नीचे झुकते हुए हथेलियों को छाती के दोनों ओर टिकाकर रखें। चित्रानुसार दायें

पैर उठाकर पीछे से पूरा पञ्जा जमीन पर सटाते हुए तानें, बायाँ पैर दोनों हाथों के बीच में रखें (इस पैर को सुविधा की दृष्टि से थोड़ा पीछे भी रख सकते हैं; परन्तु एड़ी हर हाल में जमीन को स्पर्श करती हुई हो), घुटना छाती के सामने रहे, दृष्टि आकाश की ओर, श्वास को अन्दर भरकर रखना है (स्थिति-४ की तरह)।

स्थिति-१० :

स्थिति का नाम : पादहस्तासन

श्वास : श्वास छोड़ते हुए

एकाग्रता केन्द्र : स्वाधिष्ठानचक्र

विधि : स्थिति-९ के बाद श्वास बाहर निकालकर हाथों को पीछे से सामने झुकाते हुए पैरों के पास जमीन पर टिका दें। यदि हो सके तो हथेलियों को भी पञ्जों के दायें-बायें भूमि से स्पर्श करके रखें तथा सिर को घुटनों से लगाने का प्रयास करें। ध्यान रहे कि किसी भी स्थिति में घुटने न मुड़ें (स्थिति-३ की तरह)।

स्थिति-११ :

स्थिति का नाम : ऊर्ध्वहस्तासन/हस्तोत्तानासन

श्वास : श्वास लेते हुए

एकाग्रता केन्द्र : विशुद्धिचक्र

विधि : श्वास अन्दर भरकर सामने से हाथों को खोलते हुए बिना कोहनियाँ मोड़े पीछे की ओर ले जायें, सिर हाथों के बीच में स्थित रहेगा। श्वास रोककर दृष्टि आकाश की ओर रखें, कमर को भी यथाशक्ति पीछे की ओर झुकायें (स्थिति-२ की तरह)।

स्थिति-१२ :

स्थिति का नाम : प्रणामासन

श्वास : श्वास-प्रश्वास सामान्य

एकाग्रता केन्द्र : अनाहतचक्र

विधि : सूर्याभिमुख सावधान की स्थिति में लौटते हुए (एड़ी पञ्जे मिले हुए हों) नमस्कार की स्थिति में हाथों को छाती के सामने रखें। श्वास की गति सामान्य रखेंगे (स्थिति-१ की तरह)।

सूर्य-नमस्कार के लाभ :

सूर्य-नमस्कार एक पूर्ण व्यायाम है। इससे शरीर के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग बलिष्ठ एवं निरोगी हो जाते हैं।

पेट, आन्त्र, आमाशय, अग्न्याशय, हृदय एवं फेफड़े स्वस्थ रखते हैं।

मेरुदण्ड एवं कमर को लचीला बनाकर इनमें आयी हुई विकृतियों को दूर करता है।

सम्पूर्ण शरीर में रक्तसञ्चरण अच्छी तरह से सम्पन्न करता है। इससे रक्त में आयी हुई अशुद्धियाँ दूर होकर चर्मरोगों का नाश होता है।

सम्पूर्ण शरीर को आरोग्य प्रदान करता है, अतः प्रातः शीघ्र उठकर सूर्य-नमस्कार का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

सूर्य की किरणें त्वचा पर पड़ने से हमारे शरीर में विटामिन 'डी' का निर्माण

होता है। यह विटामिन कैल्शियम व फॉस्फोरस जैसे अति आवश्यक खनिज लवणों को शरीर के लिए अतीव उपयोगी बनाता है, जिसके कारण शरीर की हड्डियाँ मजबूत हो जाती हैं।

आमाशय (Stomach), आन्त्र (Intestines), कलेजा (Liver), गुर्दा (Kidney), फेफड़ा (Lungs), पित्ताशय (Gall Bladder) तथा मेरुदण्ड (Spinal Cord) निरोगी बनते हैं।

यह अन्तःस्नायी ग्रन्थियों में धीरे-धीरे अच्छा प्रभाव डालता है।

प्रातःकालीन सूर्य की रोशनी का भरपूर उपयोग करने से तनाव, थकान व उदासीनता निर्मूल हो जाते हैं। मन, मस्तिष्क एवं शरीर तरोताजा रहते हैं। अतः प्रातःकाल सूर्याभिमुख होकर सूर्यनमस्कार अवश्य करना चाहिए।

■ 6.2. योगासन—

सम्पूर्ण आरोग्य के लिए उपयोगी मुख्य आसन—

- वज्रासन-** भोजन के बाद किया जाने वाले एकमात्र आसन है। लाभ-अपचन, अम्लपित्त, गैस, कब्ज आदि में लाभकारी है।
- मण्डूकासन-** डायबिटीज, उदर व हृदय के रोगों में उपयोगी है।
- शशकासन-** मानसिक रोग, तनाव, हृदय रोगों तथा स्त्री रोगों में लाभदायक है।
- गोमुखासन-** अण्डकोष वृद्धि, आंत्रवृद्धि, धातुरोग, बहुमूत्र व स्त्री रोगों में लाभकारी है।
- उष्ट्रासन-** सर्वाइकल स्पॉन्डिलाइटिस एवं सियाटिका एवं मेरुदण्ड के रोगों में लाभकारी।
- अर्द्धचन्द्रासन-** श्वसन-तंत्र, दमा एवं थायरॉइड रोगों में लाभप्रद है।
- पद्मासन-** ब्रह्मचर्य, कुण्डली जागरण के लिए, बवासीर एवं यौन रोगों में लाभप्रद।
- योगमुद्रासन-** यह उदर एवं डायबिटीज आदि रोगों में लाभकारी है।
- मत्स्यासन-** थायरॉइड, पैराथायरॉइड, नाभि टलना, सर्वाइकल रोगों तथा एडिनल ग्लैण्ड विकार में लाभप्रद है।
- सिंहासन-** थायरॉइड, टॉन्सिल, कान के रोगों, हकलाना-तुतलना आदि विकारों में लाभकारी है।
- बद्धपद्मासन-** स्त्रियों-पुरुषों की छाती विकास, हाथ, कन्धे एवं सम्पूर्ण पृष्ठभाग के लिए उपयोगी है।
- वक्रासन-** डायबिटीज, कमर की चर्बी कम करने, यकृत एवं तिल्ली के लिए लाभप्रद है।
- अर्धमत्स्येन्द्रासन-** मधुमेह, कमर दर्द एवं रक्तसंचरण में उपयोगी।
- भद्रासन-** ब्रह्मचर्य में, इन्द्रियों की चंचलता तथा मन की एकाग्रता में लाभकारी।
- शीर्षासन-** पिट्यूटरी एवं पीनियल ग्रन्थि को सक्रिय कर मेधा-स्मृति को बल प्रदान करता है। स्वप्नदोष, प्रमेह तथा नपुंसकता आदि दोषों को दूर करता है।
- सर्वाङ्गासन-** शुक्रग्रन्थियों एवं डिम्बग्रन्थियों को सबल बनाता है तथा कद वृद्धि में उपयोगी है।
- हलासन-** हृदय रोग, थायरॉइड, डायबिटीज, स्त्री रोग, बौनापन तथा पाचनक्रिया में लाभ प्रदान करता है।
- ताड़ासन-** कद वृद्धि के लिए सर्वोत्तम आसन है। मांस-पेशियों को लचीला व शक्तिशाली बनाने में उपयोगी आसन है।
- ब्रह्मचर्यासन-** समस्त प्रकार के धातु रोग, स्वप्नदोष तथा प्रमेह आदि रोगों में लाभ प्रदान करता है।
- पश्चिमोत्तानासन-** कद वृद्धि के लिए महत्वपूर्ण आसन है। प्राणों को सुषुम्ना की ओर उन्मुख करता है तथा कुण्डली जागरण में सहायक है।
- चक्रासन-** कटिपीड़ा, श्वासरोग, सिर-दर्द, नेत्र विकारों एवं सर्वाइकल स्पॉण्डिलाइटिस में यह विशेष हितकारी है।
- वृक्षासन-** मन की चंचलता को दूर करता है। स्नायु-मण्डल का विकास कर स्थिरता प्रदान करता है।
- गरूडासन-** अण्डकोष-वृद्धि, पौरुषग्रन्थि एवं गुर्दे के रोगों में यह आसन विशेष लाभदायक है।
- तिर्यक् ताड़ासन-** कटिप्रदेश लचीला बनता है। पार्श्वभाग की चर्बी को कम करता है।
- पादहस्तासन-** कद वृद्धि के लिए लाभप्रद है। कमर एवं पेट को स्वस्थ बनाता है।
- कटिचक्रासन-** कब्ज, आँत, गुर्दे, तिल्ली, अग्न्याशय तथा स्त्री के मासिक धर्म की विकृतियों में लाभकारी।

- कोणासन-** कमर, माँसपेशियों के दर्द, फेफड़ों की कमजोरी आदि में विशेष लाभदायक।
- त्रिकोणासन-** कटिप्रदेश को लचीला बनाता है। पार्श्वभाग की चर्बी को कम करता है तथा वक्ष विकास में उपयोगी है।
- चलितपादहस्तासन-** कमर एवं पेट की चर्बी को कम करता है एवं मोटापे को दूर करता है। कद वृद्धि करता है।
- मकरासन-** स्लिप डिस्क, सर्वाइकल स्पोण्डिलाइटिस, सियाटिका, अस्थमा तथा घुटनों के दर्द में लाभकारी।
- भुजङ्गासन-** सर्वाइकल स्पोण्डिलाइटिस, स्लिपडिस्क आदि समस्त मेरुदण्ड सम्बन्धी रोगों में उपयोगी।
- शलभासन-** मेरुदण्ड के निचले भागों में होने वाले सभी रोगों को दूर करता है।
- धनुरासन-** नाभि डिगना दूर करता है। स्त्रियों की मासिक धर्म-सम्बन्धी व गुर्दे की विकृतियों को दूर करता है।
- मर्कटासन-** सर्वाइकल स्पोण्डिलाइटिस, स्लिपडिस्क एवं सियाटिका में विशेष लाभकारी।
- पवनमुक्तासन-** उदर विकारों, मोटापा रोग, गर्भाशय सम्बन्धी रोग, हृदय सम्बन्धी रोग, गठिया एवं कटिपीड़ा इत्यादि रोगों में लाभकारी।
- कटिउत्तानासन-** स्लिप डिस्क, सियाटिका एवं कमर-दर्द के लिए विशेष लाभकारी है।
- अर्द्धहलासन-** मोटापे को कम करता है। उत्तानपादासन के सभी लाभ इस आसन में प्राप्त होते हैं।
- पादवृत्तासन-** जंघा, नितम्ब एवं कमर के बढ़े हुए मेद को कम करता है तथा पेट को हल्का तथा सुडौल बनाता है।
- द्विचक्रिकासन-** मोटापे व कमर दर्द के लिए सर्वोत्तम आसन है। पेट को सुडौल बनाता है। आँतों को सक्रिय करता है।
- सुप्तपादहस्तासन-** कमर को लचीला बनाता है। बढ़ी हुई पेट की चर्बी को कम करता है।
- उत्तानपादासन-** नाभि डिगने में विशेष लाभकारी आसन है। आँतों को बल प्रदान करता है।
- नौकासन-** हृदय एवं फेफड़े भी प्राण-वायु के प्रवेश से सबल बनते हैं। आमाशय, अग्न्याशय, आन्त्र एवं यकृत आदि को स्वस्थ रखने में उपयोगी है।
- कन्धरासन-** सूर्यकेन्द्र(नाभि) को केन्द्रित रखने के लिए सर्वोत्तम आसन है। बन्ध्यत्व, मासिक विकृति, श्वेत-प्रदर, रक्त-प्रदर एवं पुरुषों के धातु रोगों को दूर करने में विशेष लाभकारी है।
- पादांगुष्ठनासास्पर्शासन-** नाभि को ठीक रखने, कब्ज, गैस, अतिसार व आलस्य को दूर करने में महत्वपूर्ण है।
- शवासन (योगनिद्रा)-** मानसिक तनाव, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, अनिद्रा, स्नायु-दुर्बलता, थकान एवं नकारात्मक चिन्तन को दूर करता है। आत्मा को पूर्ण विश्राम, शान्ति, उत्साह व आनन्द मिलता है।

❖ Section : 7. Pranayama and Meditation-

■ 7.1 Pranayama-

यद्यपि प्राणायाम की विभिन्न विधियाँ शास्त्रों में वर्णित हैं और प्रत्येक प्राणायाम का अपना एक विशेष महत्त्व है, तथापि प्रतिदिन सभी प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया जा सकता। अतः हमने गुरुओं की कृपा एवं अपने अनुभव के आधार पर प्राणायाम की एक सम्पूर्ण प्रक्रिया को विशिष्ट वैज्ञानिक रीति एवं आध्यात्मिक विधि से आठ प्रक्रियाओं में निबद्ध किया है।

प्रथम प्रक्रिया: भस्त्रिका प्राणायाम-

भस्त्रिका प्राणायाम मे श्वास को अन्दर भरते हुए मन में विचार(संकल्प) करना चाहिए कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान दिव्य शक्ति, उर्जा, पवित्रता, शान्ति और आनन्द आदि जो भी शुभ हैं, वह प्राण के साथ मेरे देह में प्रविष्ट हो रहा है। मैं दिव्य शक्तियों से ओत-प्रोत हो रहा हूँ। इस प्रकार दिव्य संकल्प के साथ किया हुआ प्राणायाम विशेष लाभप्रद होता है।

भस्त्रिका प्राणायाम का समय—

लगभग पाँच सेकण्ड में श्वास अन्दर लेना एवं लगभग पाँच सेकण्ड में श्वास को लय के साथ बाहर छोड़ना। इस प्रकार बिना रुके एक मिनट में 12 बार भस्त्रिका प्राणायाम होगा। एक आवृत्ति में पाँच मिनट करना चाहिए। प्रारम्भ में थोड़ा रुकना पड़ सकता है। लगभग एक सप्ताह में निरन्तर पाँच मिनट बिना व्यवधान के अभ्यास हो जाता है।

सामान्यतः प्राणायाम खाली पेट किया जाये तो उत्तम है। किसी कारणवश प्रातः प्राणायाम नहीं कर पायें तो दोपहर के खाने के 5 घंटे बाद भी किया जा सकता है। असाध्य रोगी प्रातः सायं दोनों समय प्राणायाम करें तो शीघ्र ही अधिक ही लाभ होगा।

द्वितीय-प्रक्रिया: कपालभाति—

कपालभाति शब्द को लेकर योग के क्षेत्र में विविध प्रकार का विमर्श हो रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि कपालभाति एक क्रिया या कर्म है, यह प्राणायाम नहीं है। जबकि पतंजलि योगपीठ के प्रशिक्षण व वहां से प्रकाशित साहित्य में इसे प्राणायाम की श्रेणी में रखा गया है, ऐसे में एक संदेह निर्मित हो रहा है, इसके विचारणार्थ हम यहाँ कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं। सबसे पहले तो हमें यह निर्धारित करना होगा कि “प्राणायाम” की परिभाषा क्या है और इसकी परिधि में क्या कपालभाति आता है। जहां तक षट्कर्म में कर्म या क्रिया के अन्तर्गत गणना होने से कपालभाति को प्राणायाम कहने पर आपत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि प्राणायाम भी तो एक प्रकार का कर्म या क्रिया है। अतः कपालभाति प्राणायाम तो है ही इसे षट्कर्म में कर्म के श्रेणी में भी रखा है तो यह तो इसकी विशेषता या महिमा है कि कपालभाति प्राणायाम भी है और षट्कर्म के अन्तर्गत इसका शोधन क्रियाओं में भी समावेश है। वैसे भी भस्त्रिका, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, अनुलोम विलोम एवं भ्रामरी आदि सभी प्राणायामों के द्वारा हमारे शरीर, इन्द्रियों व चित्त के सभी प्रकार के मलों या दोषों की तो शुद्धि होती ही है। अतः सभी प्राणायामों को शोधन क्रियाओं के रूप में भी स्वीकार करें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि हर एक प्राणायाम एक कर्म या प्राणिक क्रिया भी है। हठप्रदीपिका के अनुसार भी कुछ आचार्य तो प्राणायाम के द्वारा ही समस्त दोषों व मलों की शुद्धि होना स्वीकार करते हैं। अतः वे षट्कर्म की क्रियाओं को आवश्यक मानते ही नहीं।

प्राणायामैरेव सर्वे शुष्यन्ति मला इति।

आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न सम्मतम्। (हठ.-2/38)

केवल प्राणायाम के द्वारा ही सभी प्रकार के मलों की निवृत्ति हो जाती है। अतः कुछ योगी आचार्य अन्य धौति आदि शोधन क्रियाओं को आवश्यक नहीं मानते। जैसे योग दर्शन में तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान यह क्रियायोग भी है, नियम भी तथा अष्टाङ्गयोग भी है। सर्वप्रथम हम प्राणायाम शब्द की शास्त्र परम्परा में व्याख्या व मूल प्राणायाम की परम्परा के संदर्भ में प्रकाश डालते हैं। प्राणायाम शब्द का उल्लेख मनुस्मृति, उपनिषद्, गीता, योग दर्शन, हठयोग के ग्रन्थों एवं पुराणादि में हुआ है।

संस्कृत भाषा में किसी भी शब्द का अर्थ धातु व प्रत्यय के आधार पर निर्धारित होता है। प्राणायाम एक यौगिक शब्द है। इसमें प्राण एवं आयाम ये दो शब्द हैं (प्राण+आङ्+यम्+घञ्) आङ् उपसर्ग पूर्वक यम उपरमे धातु से भावे (अष्टाध्यायी ३/३/१८) के द्वारा घञ् प्रत्यय होकर आयाम शब्द बनता है। आयाम के विस्तार, विधा, नियन्त्रण, अभाव, निषेध व प्रतिबोध आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। प्राणायाम के संदर्भ में प्रयुक्त आयाम शब्द का अर्थ प्राण अर्थात् श्वास-प्रश्वास की सामान्य गति का विच्छेद, अभाव, प्रतिषेध अथवा नियन्त्रण है। महर्षि पतंजलि एवं व्यासमुनि ने भी प्राणायाम की यही परिभाषा की है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (योगदर्शन-2/49)

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः।

कोष्ठस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः।

तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः। (योगदर्शन-व्यासभाष्य1/49)

प्राणायामः त्रिधाप्रोक्तः पूरक-कुम्भक-रेचकैः। (हठ.-2/71)

इसी संदर्भ में योगवासिष्ठ में लिखा है।

त्रयाणां पौर्वापर्येण प्रथमभूमिकायां सद्यनुष्ठाननियमादेकत्व व्यवहारोपपत्तेः।
 न तु तादृशवाक्येषु मिलितानामेव प्राणायामत्वं विवक्षितम्॥ (यो.वा.)
 वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्यैव सामान्यलक्षणं गतिविच्छेदः।
 शोस्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतेः प्रतिषेध-इत्यर्थः॥
 स च रेचकपूरककुम्भकेष्वनुगतः। (यो.वा.पृ.268)

निष्कर्ष के रूप में प्राणायाम की स्वाभाविक गति का प्रतिषेध, विच्छेद, अभाव या नियंत्रण ही प्राणायाम है।
 गीता में भी प्राणायाम के संदर्भ में यही बात कही गई है—

अपानेजुह्वतिप्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ (गीता4/29)

आपनेऽपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणं प्राणवृत्तिं पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः।

प्राणेऽपानं तथाऽपरे जुह्वति रेचकाख्यं च प्राणायामं कुर्वन्तीत्येतत्॥

प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यां वायोर्निगमनं प्राणस्य गतिस्तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य ते प्राणापानगती
 एते रुद्ध्वा निरुध्य प्राणायामपरायणाः प्राणायामतत्पराः कुम्भकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। (शांकरभाष्य)

गीता के इस श्लोक से भी प्राणों की सामान्य गति का प्रतिषेध करके विशेष गति करना ही पूरक, रेचक व कुम्भक प्राणायाम है।

अब हम कपालभाति पर आते हैं। हमने इसे प्राणायाम की संज्ञा क्यों दी अथवा प्राणायाम की श्रेणी में क्यों
 रखा और क्या यह शास्त्र सम्मत है। तो सबसे पहले हम महर्षि पतंजलि के योग दर्शन का संदर्भ लेते हैं।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (योगदर्शन1/34)

कोष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्।

विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्॥

योग दर्शन के व्यास भाष्य के अनुसार श्वास का दोनों नासिकाओं के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बाहर निकालना तथा
 विधारण करना यह एक प्राणायाम की प्रक्रिया है। योग दर्शन में प्राणायाम की विधि को तो बता दिया है परन्तु इसकी
 संज्ञा विशेष नहीं दी। हमें एक अन्वर्थ संज्ञा अर्थात् सार्थक नाम देना था और हमने योग दर्शन के इस प्राणायाम का
 नाम कपालभाति दिया, इसके पीछे कारण यह है कि इसी प्रकार की विधि हठप्रदीपिका में कपालभाति नाम से लिखी
 हुई है, यह हमारा शास्त्र सम्मत तर्क है। भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचकपूरौ ससंभ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोष
 विशेषणी॥ हठ.3/36 लुहार की धौंकनी की तरह श्वास को वेग पूर्वक बाहर छोड़ना अर्थात् रेचक करना तथा
 सहजता के साथ श्वास को लेना धारण करना या पूरक करना यह कपालभाति है।

प्राणायाम की श्रेणी में कपालभाति भी इसलिए आ जाता है क्योंकि, जहाँ-जहाँ श्वास प्रश्वास की रेचक, पूरक
 एवं कुम्भक क्रियाएं होगी, वहाँ-वहाँ प्राणायाम शब्द का व्यवहार होता ही है, यही शास्त्रों व गुरुओं की परम्परा है।
 कपालभाति शब्द का शब्दिक अर्थ है कपाल अर्थात् माथा, मस्तिष्क तथा भा-दीप्तौ भा धातु से क्तिच्कतौ च संज्ञायाम्
 (अष्ट. ३-३-१७४) पाणिनि अष्टाध्याय के सूत्र द्वारा संज्ञा अर्थ में क्तिच् प्रत्यय करके भाति शब्द बनता है जिसका
 अर्थ होता है दीप्ति, प्रकाश, ओज, तेज व चमक आदि। जिस प्राणायाम के करने से माथे या मस्तिष्क पर ओज, तेज,
 लावण्य, कान्ति, ज्योति व दीप्ति आ जाती है, वह कपालभाति प्राणायाम है। हमने हजारों ही नहीं करोड़ों लोगों को
 यह प्राणायाम करवाकर यह अनुभव किया है। कपालभाति से समस्त रोगों की निवृत्ति, हीमोग्लोबिन से लेकर शरीर
 के समस्त पोषक तत्वों की पूर्ति, अष्टचक्रों की जागृति, यौन रोगों की निवृत्ति व यौन इच्छाओं पर नियंत्रण तथा
 ब्रह्मवर्चस् तेज की प्राप्ति होती है और एक सप्ताह में ही कपालभाति करने वाले के माथे व चेहरे की चमक बढ़ने
 लगती है तथा लगभग नौ माह तक कपालभाति प्राणायाम करने से व्यक्ति अत्यन्त तेजस्वी हो जाता है। अतः यह
 संज्ञा अन्वर्थ व सार्थक है।

कपाल, अर्थात् मस्तिष्क और भाति का अर्थ होता है- दीप्ति, आभा, तेज, प्रकाश आदि। जिस प्राणायाम के करने
 से मस्तिष्क (माथे) पर आभा, तेज, ओज, एवं तेज बढ़ता हो, वह प्राणायाम है- कपालभाति। इस प्राणायाम की विधि

भस्त्रिका से थोड़ी अलग है। भस्त्रिका में रेचक एवं पूरक में समानरूप से श्वास-प्रश्वास पर दबाव डालते हैं, जबकि कपालभाति में मात्र रेचक, अर्थात् श्वास को शक्ति पूर्वक बाहर छोड़ने में ही पूरा ध्यान दिया जाता है। श्वास को भरने के लिए प्रयत्न नहीं करते, अपितु सहज रूप से जितना श्वास अन्दर जाता है, जाने देते हैं, पूरी एकाग्रता श्वास को बाहर छोड़ने में ही होती है। ऐसा करते हुए स्वाभाविक रूप से पेट में भी आकुंचन और प्रसारण की क्रिया होती है। तथा मूलाधार, स्वाधिष्ठान एवं मणिपुर चक्रों पर बल पड़ता है।

कपालभाति के समय शिवसंकल्प—

कपालभाति प्राणायाम को करते समय मन में ऐसा विचार करना चाहिए कि जैसे ही मैं श्वास को बाहर छोड़ रहा हूँ, इस प्रश्वास के साथ मेरे शरीर के समस्त रोग बाहर निकल रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं। जिसको जो शारीरिक रोग हो, उस दोष या विकार= काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि के बाहर छोड़ने की भावना व्यक्त करते हुए रेचक करना चाहिए। इस प्रकार रोग नष्ट होने का विचार श्वास छोड़ते वक्त करने का भी विशेष लाभ होता है।

कपालभाति प्राणायाम का समय—

एक सेकण्ड में एक श्वास को लय के साथ छोड़ना एवं सहज रूप से धारण करना चाहिए। बिना रुके एक मिनट में 60 बार तथा पाँच मिनट में 300 बार कपालभाति प्राणायाम होता है। अत्यधिक बीमार एवं कमजोर व्यक्ति प्रारम्भ में 2-3 मिनट में ही थक जाते हैं। परन्तु 10-15 दिन में प्रत्येक व्यक्ति 5 मिनट निरन्तर कपालभाति करने का सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। कपालभाति की एक आवृत्ति 5 मिनट की अवश्य होनी चाहिए। इसे कम करते-करते सामर्थ्य बढ़ने एवं अभ्यास के परिपक्व होने पर व्यक्ति 15 मिनट तक भी कपालभाति कर सकता है। स्वस्थ एवं सामान्य रोगग्रस्त व्यक्ति को कपालभाति 15 मिनट तक करना चाहिए। 15 मिनट में 3 आवृत्तियों में 900 बार कपालभाति हो जाता है।

तृतीय प्रक्रिया: बाह्य प्राणायाम (त्रिबन्ध के साथ)—

विधि:

- सिद्धासन या पदमासन में विधिपूर्वक बैठ कर श्वास को एक ही बार में यथाशक्ति बाहर निकाल दें।
- श्वास बाहर निकालकर मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध लगाकर श्वास को यथाशक्ति बाहर ही रोककर रखें।
- जब श्वास लेने की इच्छा हो तब बन्धों को हटाते हुए धीरे-धीरे श्वास लें।
- श्वास भीतर लेकर उसे बिना रोके ही पुनः पूर्ववत् श्वसन-क्रिया द्वारा बाहर निकाल दें।

बाह्य प्राणायाम के समय शिवसंकल्प—

इस प्राणायाम में भी उक्त कपालभाति के समान श्वास को बाहर निकालते हुए समस्त विकारों, दोषों को भी बाहर निकाला जा रहा है, इस प्रकार की मानसिक चिन्तन-धारा बहनी चाहिए। विचार-शक्ति जितनी प्रबल होगी, समस्त कष्ट उतनी ही प्रबलता से दूर होंगे, यह निश्चित जानें। मन का शिवसंकल्प से युक्त होना हर प्रकार की आधिव्याधि का संहारक और शीघ्र सुफलदायक होता है।

बाह्य प्राणायाम का समय—

लगभग 5 सेकण्ड में श्वास को सहजता से पूरा अन्दर भरना एवं लगभग 5 सेकण्ड में ही सहजता से बाहर छोड़कर बाहर ही 10 से 15 सेकण्ड रोककर रखना एवं पुनः 3 से 5 सेकण्ड में श्वास को अन्दर भरना एवं बाहर छोड़कर बाह्य प्राणायाम करना, इस प्रकार लगभग 20 से 25 सेकण्ड में बाह्य प्राणायाम पूरा हो जाता है। एक के बाद दूसरा प्राणायाम बिना रुके लगातार करें, तो उत्तम है। यदि प्रारम्भ में दो प्राणायामों के बीच 1-2 सामान्य श्वास लेने पड़े तो ले सकते हैं। 3 मिनट में सामान्यतः 5 बार बाह्य प्राणायाम करना पर्याप्त है। गुदाभ्रंश, पाईल्स, फिशर, फिस्टुला, योनिभ्रंश, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छ एवं यौन रोगों से पीड़ित व्यक्ति इसका 11 बार तक अभ्यास कर सकते हैं। कुण्डलनि जागरण के इच्छुक साधक एवं ऊर्ध्वरेता होने की इच्छा रखने वाले साधक इसका अधिकतम 21 बार तक अभ्यास कर सकते हैं।

लाभ: यह हानिरहित प्राणायाम है। इससे मन की चंचलता दूर होती है। जटराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर रोगों में लाभप्रद है। बुद्धि सूक्ष्म और तीव्र होती है। शरीर का शोधक है। वीर्य की ऊर्ध्व गति करके स्वप्न दोष, शीघ्रपतन, आदि धातु-विकारों की निवृत्ति करता है। बाह्य प्राणायाम करने से पेट के सभी अवयवों पर विशेष बल पड़ता है। तथा प्रारम्भ में पेट कमजोर या रोगग्रस्त भाग में हल्का दर्द का भी अनुभव होता है। अतः पेट को विश्राम तथा आरोग्य देने के लिए त्रिबन्ध-पूर्वक यह प्राणायाम करना चाहिए।

चतुर्थ प्रक्रिया: उज्जायी प्राणायाम—

इस प्राणायाम में पूरक करते हुए गले को सिकोड़ते हैं और जब गले को सिकोड़कर श्वास अन्दर भरते हैं तब जैसे खर्राटे लेते समय गले से आवाज होती है, वैसे ही इसमें पूरक करते हुए कण्ठ से ध्वनि होती है। ध्यानोपयोगी आसन में बैठकर दोनों नासिकाओं से वायु अन्दर खींचिए। कण्ठ को थोड़ा संकुचित करने से वायु का स्पर्श गले में अनुभव होगा। हवा का घर्षण नाक में नहीं होना चाहिए। कण्ठ में घर्षण होने से एक ध्वनि उत्पन्न होगी। प्रारम्भ में कुम्भक का प्रयोग न करके केवल पूरक-रेचक का ही अभ्यास करना चाहिए। पूरक के बाद धीरे-धीरे कुम्भक का समय पूरक से दुगुना कर दीजिए। कुम्भक 10 सेकण्ड से ज्यादा करना हो तो जालन्धर-बन्ध और मूलबन्ध भी लगायें। इस प्राणायाम में सदैव दाँई नासिका को बन्द करके बाँई नासिका से ही रेचक करना चाहिए।

लाभ:

जो साल भर सर्दी, खांसी, जुकाम से पीड़ित रहते हैं, तथा जिनको थायरॉयड, स्नोरिंग, स्लीपएप्निया, हृदयरोग, अस्थमा, फुफ्फुस एवं कंठविकार, टॉन्सिल, अनिद्रा, मानसिक तनाव और रक्तचाप, अर्जीण, आमवात, जलोदर, क्षय, ज्वर, प्लीहा, आदि रोग हों, उनके लिए यह लाभप्रद है। गले को ठीक, निरोग एवं मधुर बनाने हेतु इसका नियमित अभ्यास करना चाहिए। कुण्डलिनी-जागरण, अजपा-जप, ध्यान आदि के लिए उत्तम प्राणायाम है। इससे बच्चों का तुतलाना भी ठीक होता है।

पंचम प्रक्रिया: अनुलोम-विलोम प्राणायाम

नासिकाओं को बन्द करने की विधि

दोनों हाथों को वायु मुद्रा में रखते हुए दायें हाथ को उठाकर दायें हाथ के अंगुष्ठ के द्वारा दायें स्वर (पिंगला नाडी) तथा अनामिका एवं मध्यमा अंगुलियों के द्वारा बायाँ स्वर बन्द करना चाहिए। हाथ की हथेली को नासिका के सामने न रखकर थोड़ा पार्श्वभाग में रखना चाहिए।

इड़ा नाडी (वाम स्वर) चूँकी सोम, चन्द्रशक्ति या शान्ति का प्रतीक है, इसलिए नाडी-शोधन हेतु अनुलोम-विलोम प्राणायाम को बाँई नाक प्रारम्भ करते हैं। अंगुष्ठ के माध्यम से दाहिनी नासिका को बन्द करके बाँई नाक से श्वास धीरे-धीरे अन्दर भरना चाहिए। श्वास पूरा अन्दर भरने पर, अनामिका एवं मध्यमा से वाम स्वर को बन्द करके दाहिनी नाक से पूरा श्वास बाहर छोड़ देना चाहिए। धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वास की गति मन्द, मध्यम और तीव्र करें। तीव्र गति से पूरक, रेचक करने से प्राण की तेज ध्वनि होती है। श्वास पूरा बाहर निकालने पर वाम स्वर को बन्द रखते हुए ही दाँई नाक से श्वास पूरा भरकर बाँई नासिका से बाहर छोड़ना चाहिए। यह एक प्रक्रिया हुई। इस प्रकार इस विधि को सतत करते रहना, अर्थात् बाँई नासिका से श्वास लेकर दाँए से बाहर छोड़ देना, फिर दाँए से लेकर बाँई ओर से श्वास को बाहर छोड़ देना। इस क्रम को लगभग एक मिनट तक करने पर थकान होने लगती है। थकान के बीच में थोड़ा विश्राम करके, थकान दूर होने पर पुनः प्राणायाम करें। इस प्रकार इस प्राणायाम को पाँच मिनट से प्रारम्भ करके दस मिनट तक किया जा सकता है। कुछ दिन तक नियमित अभ्यास करने से साधक का सामर्थ्य बढ़ने लगता है, और लगभग एक सप्ताह में वह बिना रूके पाँच मिनट तक इस प्राणायाम को करने लगता है।

अनुलोम-विलोम के निरन्तर अभ्यास से मूलाधार-चक्र में सन्निहित शक्ति का जागरण होने लगता है। इसे ही वेदों में 'ऊर्ध्वरेतस्' होना और अर्वाचीन योग की भाषा में कुण्डलिनी-जागरण कहा जाता है। इस प्राणायाम को करते समय प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ 'ओ३म्' का मानसिक रूप से चिन्तन और मनन भी करते रहना चाहिए। ऐसा करने से मन ध्यान की उन्नत अवस्था में अवस्थित हो जाता है।

अनुलोम-विलोम करते समय शिवसंकल्प—

इस प्राणायाम को करते समय मन में विचार करें कि इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों में श्वास का घर्षण और मन्थन होने से सुषुम्ना नाड़ी जागृत हो रही है। अष्ट चक्रों से सहस्रार-चक्र पर्यन्त एक दिव्य ज्योति का ऊर्ध्वस्फुरण हो रहा है।

मेरा पूरा देह दिव्य-आलोक से देदीप्यमान हो रहा है। शरीर के बाहर और भीतर दिव्य आलोक, ज्योति एवं शक्ति का ध्यान करते हुए 'ओं खं ब्रह्म' का साक्षात्कार करें। यह विचार करें कि विश्वनियन्ता परमेश्वर अपनी दिव्य शक्ति, दिव्यज्ञान, से मुझे ओतप्रोत कर रहा है। 'शक्तिपात' की दीक्षा से स्वयं को दीक्षित करें। शक्ति के लिए गुरु मात्र प्रेरक नहीं है, गुरु तो मात्र दिव्य संवेदनाओं से जोड़ता है। वास्तव में 'शक्तिपात' शक्ति के असीम सिन्धु ओम् परमेश्वर करते हैं। इस प्रकार दिव्य संवेदनाओं से ओतप्रोत होकर किये हुए इस अनुलोम-विलोम प्राणायाम से विशेष शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ मिलेगा। मूलाधार-चक्र से स्वतः एक ज्योति स्फुरित होगी, कुण्डलिनी-जागरण होगा, आप उध्वरेता बनेंगे और 'शक्तिपात' की दीक्षा में स्वतः दीक्षित हो जायेंगे।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम का समय-

बाँई नासिका से लगभग पाँच सेकण्ड में श्वास लय के साथ भरना एवं बिना रोके दाँई नासिका से लगभग पाँच सेकण्ड में श्वास को बाहर छोड़ देना तथा दाँई से छोड़ने के तुरन्त बाद दाँई से सहज रूप में पाँच सेकण्ड में श्वास लेना एवं बिना श्वास को रोके बाँई से लगभग पाँच सेकण्ड में ही श्वास को एक लय के साथ बाहर छोड़ना, इस प्रक्रिया को बिना रुके लगभग 5 मिनट तक निरन्तर जारी रखना। यद्यपि प्रारम्भ में थकान होगी। अधिक बल का प्रयोग न करें एवं कोहनी को अधिक ऊपर उठाकर अनुलोम-विलोम करने से कंधा दुखने लगता है अतः हाथ को सामान्यतः सही स्थिति में रखें। 5 से 7 दिन में निरन्तर 5 मिनट अनुलोम-विलोम करने से समर्थ हो जायेंगे।

लगभग 20 सेकण्ड में अनुलोम-विलोम प्राणायाम एक बार निष्पन्न होगा एवं 1 मिनट में लगभग 3 बार / 5 मिनट की एक आवृत्ति में अनुलोम-विलोम निष्पन्न होगा।

लाभः

- इस प्रणायाम से बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार दो सौ दस नाड़ियाँ परिशुद्ध हो जाती हैं। सम्पूर्णनाड़ियों की शुद्धि होने से देह पूर्ण स्वस्थ, कान्तिमय, एवं बलिष्ठ बनता है।
- हृदय की धमनियों (arteries) में आये हुए अवरोध (ब्लॉकेज) खुल जाते हैं। इस प्राणायाम का नियमित अभ्यास करने से लगभग तीन-चार माह में तीस प्रतिशत तक ब्लॉकेज खुल जाते हैं। ऐसा हमने अनेक रोगियों पर प्रयोग करके अनुभव किया है।

षष्ठप्रक्रिया : भ्रामरी प्राणायाम

श्वास पूरा अन्दर भरकर मध्यमा अंगुलियों से नासिका के मूल में आँख के पास से दोनों ओर थोड़ा दबाएँ, मन को आज्ञाचक्र में केन्द्रित रखें। अंगूठों के द्वारा दोनों को पूरा बन्द कर लें। अब भ्रमर की भाँति गुंजन करते हुए नाद रूप में 'ओ३म्' का उच्चारण करते हुए श्वास को बाहर छोड़ दें। पुनः इसी प्रकार आवृत्ति करें।

भ्रामरी प्राणायाम के समय का शिवसंकल्प-

यह प्राणायाम अपनी चेतना, ब्राह्मी चेतना, ईश्वरीय सत्ता के साथ तन्मय एवं तद्रूप करते हुए करना चाहिए। मन में यह दिव्य-संकल्प या विचार होना चाहिए कि मुझपर भगवान की करुणा, शान्ति तथा आनन्द बरस रहा है। मेरे आज्ञाचक्र में भगवान् दिव्य-ज्योति के रूप में प्रकट होकर मेरे समस्त अज्ञान को दूर कर मुझे 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' से सम्पन्न बना रहे हैं। इस प्रकार शुद्ध भाव से यह प्राणायाम करने से यह प्राणायाम करने से एक दिव्य-ज्योति पुंज आज्ञाचक्र में प्रकट होता है और ध्यान स्वतः होने लगता है।

भ्रामरी प्राणायाम का समय-

लगभग 5 सेकण्ड में श्वास को अन्दर भरना एवं विधिपूर्वक कान, आँख आदि बन्द करके 15 से 20 सेकण्ड में श्वास बाहर छोड़ना। एक बार भ्रामरी होने पर तुरन्त पुनः लगभग 5 सेकण्ड में एक लय के साथ श्वास अन्दर भरना एवं पुनः 15 से 20 सेकण्ड में भ्रमर की ध्वनि को करते हुए विधिपूर्वक श्वास को बाहर छोड़ना। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को लगातार कम से कम 5 से 7 बार भ्रामरी प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। यह पूरी प्रक्रिया लगभग 4 से 5 मिनट में पूरी हो जाती है। कैंसर, डिप्रेसन, पार्किंसन, माइग्रेन, हृदय रोग, नेत्र रोग एवं अन्य किसी असाध्य रोग से

पीड़ित रोगी या योग की गहराइयों में उतरने के इच्छुक योगी 11 से 21 बार तक भी भ्रामरी प्राणायाम कर सकते हैं।
लाभ:

मन की चंचलता दूर होती है। मानसिक तनाव, उत्तेजना, उच्च रक्तचाप, हृदयरोग आदि में लाभप्रद है। ध्यान के लिए अति उपयोगी है।

सप्तम प्रक्रिया: उद्गीथ प्राणायाम

लगभग 5 सेकण्ड में श्वास को एक लय के साथ अन्दर भरना एवं पवित्र ओ३म् शब्द का विधिपूर्वक उच्चारण करते हुए लगभग 15 से 20 सेकण्ड में श्वास को बाहर छोड़ना। एक उच्चारण पूरे होने पर पुनः श्वास को लय के साथ लगभग 5 सेकण्ड में भीतर गहरा भरना एवं पुनः 15 से 20 सेकण्ड में ओ३म् की ध्वनिपूर्वक बाहर छोड़ना। इस प्रकार लगभग 4 से 5 मिनट में लगभग 7 बार प्रत्येक व्यक्ति को उद्गीथ प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। असाध्य रोगों से ग्रस्त एवं ध्यान की गहराइयों में उतरने के इच्छुक साधक 5 से 10 मिनट या इससे भी अधिक समय इस प्राणायाम को कर सकते हैं। यह प्राणायाम बहुत ही सहज ठीक है। अतः इनका यदि कोई साधक लम्बा अभ्यास भी करता है तो किसी प्रकार की कोई हानि की सम्भावना नहीं है।

अष्टम प्रक्रिया: प्रणव ध्यान (प्राणसाधना)

पूर्वनिर्दिष्ट सभी प्राणायाम करने के सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास पर अपने मन को टिकाकर प्राण के साथ उद्गीथ 'ओ३म्' का ध्यान करें। भगवान ने ध्रुवों की स्थिति ओंकारमयी बनाई है। यह पिण्ड (देह) तथा समस्त ब्रह्माण्ड ओंकारमय है। ओंकार कोई व्यक्ति या आकृति विशेष नहीं है, अपितु एक दिव्यशक्ति है, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संचालन कर रही है। द्रष्टा बनकर दीर्घ एवं सूक्ष्म गति से श्वास की गति इतनी सूक्ष्म होनी चाहिए कि स्वयं को भी श्वास की ध्वनि की अनुभूति न हो तथा नासिका के आगे रूई भी रख दें तो वह हिले नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाकर प्रयास करें कि एक मिनट में एक श्वास तथा एक प्रश्वास चले। इस प्रकार श्वास को भीतर तक देखने को भी प्रयत्न करें। प्रारम्भ में श्वास के स्पर्श की अनुभूति मात्र नासिकाग्र पर होगी। धीरे-धीरे श्वास के गहरे स्पर्श को भी अनुभव कर सकेंगे। इस प्रकार कुछ समय तक श्वास के साथ द्रष्टा, अर्थात् साक्षीभाव पूर्वक ओंकार का जप करने से ध्यान स्वतः होने लगता है। आपका मन अत्यन्त एकाग्र तथा ओंकार में तन्मय और तद्रूप हो जायेगा। प्रणव के साथ-साथ वेदों के महान्मंत्र गायत्री का भी अर्थपूर्वक जप एवं ध्यान किया जा सकता है। इस प्रकार साधक ध्यान करते-करते सच्चिदानन्दन-स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप में तद्रूप होता हुआ समधि के अनुपम दिव्य आनन्द को भी प्राप्त कर सकता है। सोते समय भी इस प्रकार ध्यान करते हुए सोना चाहिए। ऐसा करने से निद्रा भी योगमयी हो जाती है, दुःस्वप्न से भी छुटकारा मिलेगा तथा निद्रा आयेगी एवं प्रगाढ़ रहेगी।

प्रणव ध्यान का समय

द्रष्टा बनकर या साक्षी होकर एक लय के साथ श्वासों पर मन को केन्द्रित कर देते हैं। तो प्राण स्वतः सूक्ष्म हो जाता है और 10 से 20 सेकण्ड में एक बार श्वास अन्दर जाता है। और 10 या 20 सेकण्ड में श्वास बाहर निकलता है। लम्बे अभ्यास से योगी का 1 मिनट में एक ही श्वास चलने लग जाता है। भस्त्रिका, कपालभाति, बाह्य, अनुलोम-विलोम, भ्रामरी, एवं उद्गीथ के बाद यह विपश्यना या प्रेक्षाध्यान रूप प्रणव प्राणायाम किया जाता है। यह प्रक्रिया पूरी तरह ध्यानात्मक है। लगभग 5 मिनट प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यानात्मक प्राण साधना अवश्य करना चाहिए। समाधि के अभ्यासी योगी साधक प्रणव के ध्यान के साथ श्वासों की इस साधना को समय की उपलब्धता के अनुसार घंटों तक भी करते हैं। इस प्रक्रिया में श्वास से किसी तरह की ध्वनि नहीं होती अर्थात् यह ध्वनिरहित साधना साधक को भीतर गहरे मौन में ले जाती है, जहाँ साधक की इन्द्रियों का मन में, मन का प्राण में, प्राण का आत्मा में, और आत्मा का विश्वात्मा अथवा परमात्मा में लय हो जाता है, इस प्रकार साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। प्राणायाम से प्रारम्भ हुई साधना से अर्थात् प्राणायामों की निरन्तरता से प्रत्याहार, प्रत्याहार की निरन्तरता से धारणा, धारणा की निरन्तरता व दृढ़ता से ध्यान एवं ध्यान की निरन्तरता से समाधि की सहज प्राप्ति होती है। इस प्राण साधना से धारणा, ध्यान एवं समाधि के संयोग से 'त्रयमेकत्र संयमः' संयम प्राप्त होता है संयम से प्रज्ञालोक, प्रज्ञालोक से सैल्फ हीलिंग एवं सैल्फ रियलाइजेशन की अनुभूति को साधक प्राप्त कर लेता है। उसके चारों ओर एक प्रखर आभा

मंडल तैयार हो जाता है जो एक अभेद्य सुरक्षा कवच बनकर साधक की सब व्याधियों एवं विकारों से रक्षा करता है।

■ 7.1 Meditation-

ध्यान— पतंजलि के अष्टाङ्ग योग के अनुसार 'ध्यान' योगङ्गों में सातवां अंग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योग के बाह्य अंग माने जाते हैं तथा धारणा, ध्यान समाधि ये तीन अन्तरङ्ग माने जाते हैं। अन्दर के विराट् साम्राज्य में प्रवेश करने हेतु धारणा, अन्तर और बाह्य जगत् के बीच सेतु का काम करता है तो ध्यान उस अन्तर्जगत् में प्रथम प्रवेश द्वार के समान या प्रथम पदार्पण के समान है। संसार के भिन्न-भिन्न मत-सम्प्रदायों में साधना की विधियों में भेद हो सकता है लेकिन ध्यान के विषय में मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि ध्यान रूपी प्रवेश द्वार के बिना अन्तर्जगत् में प्रवेश हो ही नहीं सकता। अतः साधना की सभी विधियों में ध्यान अत्यावश्यक है। पतंजलि योगानुसार यम-नियम रूपी महाव्रतों का पालन करने के पश्चात् आसनसिद्ध हो जाने पर, प्राणायाम के माध्यम से मन व प्राण के सभी मलों का नाश करके, इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से समेट कर, मन को शरीर के किसी स्थान विशेष में समाहित करके, उस देश विशेष में ध्यायमान विषय को आलम्बन बनाकर ज्ञान की जो एकतानता है, उसे ध्यान कहते हैं— **देश बन्धाश्चित्तस्य धारणा।**

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्” (योग दर्शन 3/1., .2) अर्थात् तेल की अजस्र गिरती हुई धारा के समान ध्यायमान विषय के ज्ञान का अखण्ड प्रवाह ही ध्यान है। यह ज्ञान किसी दूसरे विषय के ज्ञान से उस समय अर्थात् ध्यानकाल में सर्वथा अमिश्रित रहता है। सांख्यदर्शन में मन के निर्विषय होने को ही ध्यान कहा है **“ध्यानं निर्विषयं मनः”** —(सांख्यसूत्र 6.25) यहाँ निर्विषय का अर्थ है कि उस समय कोई सांसारिक विषय या इन्द्रियों का विषय चित्त में नहीं रहता, अपितु वह ब्रह्म ही इस समय चित्त के आलम्बन का विषय बना हुआ रहता है। साधना की दृष्टि से यह चित्त की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है, क्योंकि चित्त का कार्य है किसी विषय का आलम्बन लेकर उस पर चिन्तन करना। कठोपनिषद् में कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥—(कठोपनिषद्)

अर्थात् समस्त आलम्बनों में ब्रह्म का आलम्बन ही सर्वश्रेष्ठ व बड़ा आलम्बन है। इस आलम्बन को पा लेने वाला व्यक्ति ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त हो जाता है— अर्थात् ज्ञानी लोगों में, विद्वानों व योगियों के बीच में वह व्यक्ति विशेष प्रतिष्ठा को प्राप्त होकर ईश्वर की कृपा का पात्र बन जाता है। ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था ही योगङ्गों में अन्तिम अङ्ग समाधि में परिवर्तित हो जाती है— चित्त के आलम्बन का विषय जब केवल ज्ञानरूप न रहकर अर्थमात्र के रूप में निर्भासित होने लगता है, ज्ञान का अपना स्वरूप शून्य जैसे हो जाता है अर्थात् 'जानामि' इस प्रकार की भी अनुभूति जब नहीं होती है अर्थात् ध्येयभूत अर्थ पर आत्यन्तिक एकाग्रता होने के कारण केवल उसी अर्थ के रूप में निर्भासित होने लगता है, ध्यान की इस अवस्था को ही समाधि कहते हैं। वे ये धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एकत्र अर्थात् एक ही आलम्बनगत हो जाते हैं तब इसे 'संयम' कहते हैं **“त्रयमेकत्र संयमः”** यह संयम शब्द योगदर्शन की अपनी तान्त्रिकी परिभाषा है और उस संयम पर विजय प्राप्त करने से प्रज्ञा का प्रकाश होता है— **“तज्जयात् प्रज्ञालोकः”**। जैसे-जैसे संयम स्थिर होता जाता है, उसी क्रम में समाधिजन्य प्रज्ञा विशारद अर्थात् निर्मलतर और निर्मलतम होती चली जाती है और उस ध्येयपदार्थ का स्वरूप इस योगी के समक्ष सर्वथा, सर्वभावेन प्रकट हो जाता है। चेतना की इस अवस्था में ही योगी कह उठता है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्, ब्रह्मपश्चाद् दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रस्रतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ (मुण्डकोपनिषद् 2.2.12)

यह अमृत रूपी ब्रह्म ही मेरे सामने पीछे, दायें, बायें, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे सर्वत्र प्रसृत या विराजमान है, यह सम्पूर्ण रूप ब्रह्म में ही है, ब्रह्म ही वरिष्ठ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है।

“सर्व खल्विदं ब्रह्म” यह सब दृश्यमान् जगत् ब्रह्म का ही मूर्तरूप है।

रागोपहतिर्ध्यानम्—(सांख्य 3.30) सांख्यदर्शन के तृतीय अध्याय में कह, राग से उपहत हो जाना अर्थात् रागमुक्त हो जाना ही ध्यान है। सूत्र में राग शब्द पढ़ने से द्वेष का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। जब व्यक्ति को किसी के प्रति राग होता है तो उस राग में बाधा डालने वाले तत्त्वों से द्वेष भी अवश्य ही होता है। जब पर वैराग्य होने से कोई कामना ही चित्त में शेष नहीं बची तो राग कैसे उत्पन्न होगा क्योंकि जहाँ चाहत है वहाँ राग है और जब राग ही नहीं बचा तो द्वेष किसी से हो ही नहीं सकता। जब चित्त में राग, द्वेष दोनों ही समाप्त हो गए इसका मतलब है अविद्या समाप्त हो गई और तब तो मात्र ब्रह्म रूपी विषय ही चित्त में रह गया या संसार भी विषय बने तो राग, द्वेष से मुक्त अपने यथार्थ रूप में उपस्थित होगा, किसी विषय का विशुद्ध ज्ञान का प्रवाह बने यही तो ध्यान है।

ध्यान के मुख्य रूप से दो चरण हैं एक सम्पूर्ण अस्तित्व को भगवान् के ऐश्वर्य, महिमा या भगवान् की रचना के रूप में अनुभव करते हुए सबके मूल में ब्रह्म को अनुभव करना, सब स्वरूपों में ब्रह्मस्वरूप, सब सम्बन्धों में ब्रह्मसम्बन्ध, सब सुखों में ब्रह्मसुख, सब ऐश्वर्यों में ब्रह्म का ही ऐश्वर्य, सब शक्तियों में ब्रह्म की शक्ति अर्थात् समस्त ज्ञान, ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य के मूल में भगवान् को ही अनुभव करना यह भगवान् का सगुण साकार ध्यान या उपासना है तथा इन सब मूर्तरूपों के पीछे अमूर्त, निराकार आत्मा या परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार जो ज्ञानमात्र, चिन्मात्र व आनन्दमय ब्रह्म है, उसमें समाहित होना यह निर्गुण निराकार ध्यानोपासना है।

अब यह चर्चा तो हुई उन लोगों की जो योगीजन हैं, ब्रह्म का साक्षात्कार ही जिनका सर्वोपरि लक्ष्य है। पर प्रश्न यह उठता है कि जिनका लक्ष्य संसार है, उनके लिए भी ‘ध्यान’ का कोई सदुपयोग है या नहीं? उत्तर है उनके लिए भी ध्यान बहुत उपयोगी है। हमारे यहाँ तो सामान्य बोल-चाल की भाषा में भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि कोई खाना खा रहा हो या पढ़ रहा हो या कहीं जा रहा हो तो घर के बड़े बोलते हैं, भाई ध्यान से खाना, ध्यान से पढ़ना, ध्यान से जाना, इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय जो कार्य कर रहे हो उस समय, उसी विषय के ज्ञान पर एकाग्र रहेंगे तो उसका प्रतिफल अधिक अच्छा, अधिक लाभकारी व अधिक प्रसन्नता प्रदान करने वाला होगा। अतः निष्कर्ष रूप में ध्यान मानव मात्र के लिए शारीरिक, मानसिक, प्राणिक, बौद्धिक, वाचिक, व्यवहारिक व आत्मिक, हर पहलू की दृष्टि से हमें एक नयी ऊर्जा, शान्ति, सन्तोष व सुख देने की पद्धति है। आजकल यद्यपि ध्यान के नाम पर अशास्त्रीय या अवैदिक पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं, किन्तु वास्तव में ध्यान उसी व्यक्ति का घटित होता है, जो योग के पहले 6 अङ्गों का यथोचित्त पालन कर चुका है, जिस प्रकार नींद की विधि तो बतायी जा सकती है, पर अच्छी नींद किसी को दिलायी नहीं जा सकती, वह तो परिणाम है जो व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्मों का यथोचित्त पालन करता है उसे अच्छी नींद, उसके परिणाम स्वरूप मिलती है। उसी प्रकार ध्यान की विधि तो हमारे ऋषियों ने बता दी है, लेकिन उस की स्थिति में दिव्याङ्गों के अनुष्ठान में कोई पहुंचा नहीं सकता, वह तो परिणाम है, अष्टांग योग के पूर्व 6 अङ्गों का यथोचित्त पालन करने वाले व्यक्ति के जीवन में ही ध्यान घटित होता है, फिर वह चाहे कोई संसारी हो या ब्रह्मचारी, योगी संन्यासी हो। ध्यान तो सभी के लिए अनिवार्य है।

❖ Section : 8. P

सैक्शन - 8 शिक्षण कला

सैक्शन - 8.1 योग का गहन ज्ञान

1. संवाद की कला निर्देशन इत्यादि-
- 8.2. प्रस्तुति की योग्यता-

8.3. शिक्षण कला के सिद्धान्त एवं योग्यता-

शिक्षण कला अपने आप में एक महत्वपूर्ण कला है जो व्यक्ति अच्छा श्रोता होता है वह बहुत अच्छा वक्ता भी हो ऐसा आवश्यक नहीं है। योग का साधक होना एक बात है, योग के साधक सब हो सकते हैं परन्तु योग प्रशिक्षक होना इससे भिन्न है यह कला योग्य गुरु के सान्निध्य में लगातार अनुभव से प्राप्त होती है।

1. अभ्यास
2. अनुभव
3. अनुभूत ज्ञान
4. सरल सम्प्रेषण एवं सुस्पष्ट सम्प्रेषण
5. शिक्षण हेतु पाठ्यक्रम की योजना
6. पाठ्यक्रम समय अवधि का निर्धारण
7. समय अवधि में अपने विषय का सम्प्रेषण
8. तकनीकी का सहयोग
9. स्वयं करके दिखाना, डैमो
10. छात्रों से करवाना
11. सावधानियाँ बताना
12. विरूद्ध-आहार, विरूद्ध-आसन/प्राणायाम आदि का वर्गीकरण
13. स्मृति हेतु परिश्रम करना एवं करवाना
14. गृह कार्य एवं अभ्यास का निर्धारण
15. प्रश्नोत्तर एवं परीक्षा
16. यथा योग्य मूल्यांकन
योग कक्षा की स्वच्छता एवं उसके वातावरण का ध्यान रखना।

संवाद कला-

सूचनाओं का आदान-प्रदान करना इस कला का मूल उद्देश्य है, इसमें सूचनाओं का सम्प्रेषण करना एवं उन सूचनाओं को पूर्णतः समाहित करना दो अलग-अलग आयाम हैं।

- ◆ संवाद मौखिक और लिखित हो सकता है।
- ◆ इसमें न्यूनतम दो व्यक्तियों का होना अनिवार्य है।
- ◆ एक सूचनाओं को भेजने वाला एक सूचनाओं को प्राप्त करने वाला।
- ◆ संवाद में सूचनाओं को बताना, एवं सुनना तथा समझाना शामिल है।
- ◆ सब प्रकार के व्यवहार में संवाद एक आवश्यक कला है।
- ◆ प्रत्येक शिक्षण में संवाद ही वह कला है, जो ज्ञान का प्रवाह शिक्षक से शिष्य तक करती है। शिक्षक द्वारा ज्ञान का, तकनीकी का, मूल्यांकन का, सोच का, एवं आदर्शों का सम्प्रेषण संवाद के माध्यम से होता है।

संवाद दो प्रकार का होता है-

- क. बोलकर अथवा बिना बोले-

बोलकर संवाद करने का उदाहरण-

1. भाषा का चयन
2. ध्वनि की मात्रा
3. प्रस्तुति
4. सरल एवं सारांश
5. प्रस्तुति के लिए तकनीकी का सहयोग
6. विश्वासपूर्ण, प्रस्तुति
7. बिना बोले संवाद की कला

बिना बोले संवाद करने का उदाहरण—

1. हाव-भाव
 2. शारीरिक
 3. चेहरे का भाव
 4. दृष्टि से संदेश सम्प्रेषण
 5. इशारों से संदेश का सम्प्रेषण
 6. शरीर की मुद्रायें
 7. वेश-भूषा
- ख. संवाद दो प्रकार से होता है व्यक्तिगत अथवा समूहों में
1. **व्यक्तिगत संवाद :-** विशेष एवं मूल्य अभिवृद्धि
 2. **सामूहिक संवाद :-** सरल, सामान्य

8.4 समूह में शिक्षण की योग्यता एवं सिद्धान्त—

प्रस्तुति की योग्यता एवं उसमें उसके लिए आवश्यक संसाधन एवं तकनीकी संवाद कला, समय प्रबन्धन एवं पाठ्यक्रम के सभी आवश्यक आयमों को सरल भाषा में प्रशिक्षित करना।

6. मूल्यांकन

- ◆ अध्यापक एवं अध्यापन का मूल्यांकन
 - ◆ विद्यार्थी का मूल्यांकन
 - ◆ योग पाठ्यक्रम का मूल्यांकन
- योग शिक्षक एवं विद्यार्थी की योग्यता का मूल्यांकन**
1. बौद्धिक मूल्यांकन
 2. शारीरिक योग क्रियाओं का मूल्यांकन :-
 1. षट्क्रिया 2. आसन 3. बंध 4. मुद्रा 5. प्राणायाम 6. ध्यान
 3. प्रशिक्षण कला एवं संवाद कला का मूल्यांकन।